अक्टूबर-दिसम्बर , 2024

अंक-2

उद्गीत

नाट्यालोचना विशेषांक

Peer Reviewed Journal

'उद्गीत' पत्रिका के प्रवेशांक के विमोचन-समारोह की झलकियाँ

उद्गीत

साहित्य, समाज और संस्कृति की संवाहक त्रैमासिक पत्रिका

PEER REVIEWED JOURNAL

अंक-2 अक्टूबर-दिसम्बर, 2024

नाट्यालोचना विशेषांक

उद्‌गीत

अंक 2, अक्टूबर-दिसम्बर, 2024

सम्पादक : **वीरेन्द्र भारद्वाज**

संस्थापक : **रमेश गौतम**

संरक्षक : **यामिनी गौतम**

सम्पादन मण्डल

अनीता देवी

आशा

कुसुम लता

मुन्ना कुमार पाण्डेय

ज्योति शर्मा

धर्मेन्द्र प्रताप सिंह

इस अंक का मूल्य : 40 रुपये

सम्पादकीय सम्पर्क
प्लॉट नम्बर-75, चतुर्थ तल
पॉकेट-8, सेक्टर-21
रोहिणी, दिल्ली-110086
udgeet8@gmail.com
https://udgeet.in/

सम्पादन : अवैतनिक
लेखकों के व्यक्त विचारों से सम्पादक या प्रकाशक का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।
पत्रिका से सम्बन्धित समस्त विवाद दिल्ली न्यायालय के अन्तर्गत विचाराधीन होंगे।

अनुक्रम

सम्पादकीय

सौन्दर्य-बोध की समझ — वीरेन्द्र भारद्वाज 5

धरोहर लेख

समयबोध का नाटककार भारतेंदु — रमेश गौतम 6

नई सदी के सवाल और प्रसाद के नाटक — रमेश गौतम 11

स्वातंत्र्योत्तर नाट्य-कर्म : इतिहास-परंपरा का अपसंस्कृतिकरण — रमेश गौतम 18

नाट्यालोचना केन्द्रित लेख

निन्दक नियरे राखिये — यामिनी गौतम 24

महाकवि शूद्रक के 'मृच्छकटिक' की समीक्षा — शशि शर्मा 25

भारतेंदु की नाट्य दृष्टि में लेखन और मंचन का स्वरूप — आरती 29

प्रसाद की नाट्यालोचना दृष्टि — बरखा लोहिया 32

इतिहास को लेकर प्रसाद का आधुनिक दृष्टिकोण — अनीता देवी 34

मोहन राकेश के नाटकों में प्रयोगधर्मिता — रोहिणी पांड्यान 37

रमेश गौतम की मिथकीय दृष्टि — कुसुम लता 40

रमेश गौतम की नाट्य-आलोचना दृष्टि — प्रवीण भारद्वाज 43

दिल्ली की हिन्दी रंग-पत्रकारिता — प्रतिभा राणा 45

नाटक बनाम रंगमंच — सूरज रंजन 51

'कबिरा खड़ा बज़ार में' नाटक का कथ्य — मीनू कुमारी 55

स्त्री विमर्श के संदर्भ में नादिरा ज़हीर बब्बर का नाटक ''जी, जैसी आपकी मर्ज़ी...'' — नीतू जय सिंघानी 58

नादिरा बब्बर का नाटक 'सकुबाई' : आर्थिक विषमता और सामाजिक विसंगतियों का प्रिज्म — संदीप सो. लोटलीकर 63

विश्वविद्यालयी रचनाशीलता का एक महत्त्वपूर्ण आयाम : कैम्पस रंगमंच — धर्मेन्द्र प्रताप सिंह 67

लोक संस्कृति

भोजपुरी लोकजीवन का सांस्कृतिक पक्ष और भिखारी ठाकुर — मुन्ना कुमार पाण्डेय 69

भाषा-चिंतन

हिन्दी भाषा का बदलता स्वरूप — ज्योति सिंघल 73

नाटक

नाटक अंश : 'कृष्ण प्रसंग' — रमा यादव 75

गीत

दो गीत	राजेंद्र गौतम	78
बेटी भी हो, लाडली हो तुम	राज भारद्वाज	79

संस्मरण

प्रो. रमेश गौतम सर स्मरण	अमित कुमार	80

व्यंग्य

आवश्यकता चुगलखोरी केन्द्रों की	अनीता यादव	82

रंग-समीक्षा

मोहन राकेश के तीन नाटक : एक अनूठा प्रयोग	आशा	83
जयशंकर प्रसाद का 'चन्द्रगुप्त'	प्रवीण भारद्वाज	84

सम्पादकीय

सौन्दर्य-बोध की समझ

'उद्गीत' वैदिक परम्परा से प्रेरित भारतीय संस्कृति और मूल्यों की वाहक पत्रिका है। भारतीय साहित्य और संवेदना की मूल चेतना में सौन्दर्यानुभूति का विशेष महत्त्व रहा है। इसकी शुरुआत वेदों से ही हो जाती है। यजुर्वेद में कर्म का सौन्दर्य प्रतिपादित हुआ है, सामवेद में ज्ञान का, अथर्ववेद में कामनाओं का, और ऋग्वेद में समस्त के सौन्दर्य की प्रतिष्ठा हुई है। गीता में स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'मैं वेदों में सामवेद हूँ' अर्थात् हृदय का सौन्दर्य हूँ, जो लयात्मक स्पन्दन के रूप में निरंतर धड़कता है—उसमें जरा-सा विचलन ही बहुत बड़ी मुसीबत का कारण बन जाता है और उसकी चुप्पी तो मृत्यु की सूचना हो जाती है। आचार्य भरत मुनि ने इन्हीं चारों वेदों के सौन्दर्य को सरलतम रूप में आमजन तक पहुँचाने के लिए 'नाट्यशास्त्र' की रचना की है। इसे 'पंचम वेद' भी कहा गया। इसमें विवेचित सौन्दर्यशास्त्र की लहरियों ने भारतीय कला-साहित्य-संस्कृति की परम्परा को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। 'उद्गीत' के प्रणेता परम आदरणीय श्रद्धेय गुरुवर रमेश गौतम इसी नाट्य परम्परा के मूल्यों और संवेदनाओं के मर्मज्ञ आचार्य थे। उन्हीं की प्रेरणा से उद्गीत के इस अंक को नाट्य-सौन्दर्य पर ही केन्द्रित रखने का प्रयास हुआ है।

बात दरअसल यह है कि जब परमात्मा के बनाये इस सुन्दर संसार में सभी कुछ सुन्दर है तो फिर जीवन के कष्ट-चुभन, कांटे-बिछोह और पीड़ा क्यों है? इतनी कल्याणकारी-हितकारी रचनाओं और प्राकृतिक सौन्दर्य की विपुलता के बावजूद इतनी दुश्वारियाँ क्यों हैं? आत्मा-परमात्मा के मध्य पहचान और आनन्द का संकट क्यों है? तो फिर उत्तर मिलता है कि यह व्यक्ति की अपनी दृष्टि का परिणाम है कि वह विराट परम सत्ता के सौंदर्य को देखता कैसे है? और आगे अनुयायियों को बताता-समझाता कैसे है? मतलब परम-सौन्दर्य की व्याख्या में भटकाव अनुयायियों की दृष्टि का कमाल है। इसीलिए यह संकुचन या वैशिष्ट्य उन्हें देशकाल-स्वार्थ से प्रभावित रूप में ऐसा करने पर आमादा किये रहता है वो इसको अपना परम कर्तव्य भी समझते हैं और पवित्र कार्य भी।

भारतीय सनातन परम्परा में भटकते मनुष्य को स्वयं भगवान कुरुक्षेत्र में ले जाकर गीता का पाठ पढ़ाते दिखायी देते हैं। सनातन की यह शक्ति और क्षमता अन्यत्र जरा दुर्लभ है। रावण ने शिव की स्तुति में स्रोत्र लिखा—

जटा टवी गलज्जलप्रवाह पावितस्थले गलेऽव
लम्ब्यलम्बितां भुजंगतुंग मालिकाम्।
डमड्डमड्डमड्डमन्निदाद वड्डमर्वयं चकारचण्डताण्डवं तनोतु
नः शिवः शिवम्॥

क्योंकि रावण दैत्य परम्परा से आते हैं, इसलिए शिव स्रोत में उनकी वाणी में तांडव की ध्वनि है, हिंसा की धमक है, चिल्लाहट है, क्रोध है, लेकिन है—'शिव-स्तुति' ही। जबकि तुलसीदास के राम की स्तुति में विनम्रता है, झुकना है, निर्माण है, माधुर्य है—

नमामी शमीशननिर्वाणरूपं विभुं व्यापक ब्रह्म वेदस्वरूपं।
निजं निर्गुण निर्विकल्प निरीहं, चिदाकाशमाकाशवासं भजेह।।

दोनों ही शिव की स्तुतियाँ हैं। लेकिन दोनों के नाद-सौंदर्य में बहुत भिन्नता है। रावण जो स्वयं है वह शिव को उसी रूप में देखता है, जबकि राम जो हैं वो उसी रूप में। भगवान तो शीशे के समान है, उसके सामने जाने पर वह वही दिखाता है जो सामने होता है, ईश्वर को देखने के लिए बस एक आईना लगाने की जरूरत है, आप स्वयं उसमें अपना सम्पूर्ण सौन्दर्य देख सकते हो। बकौल शायर—

हम आइना हैं, आइना ही रहेंगे
फिक्र वो करे
जिनकी शक्लों में कुछ और
औ दिल में कुछ और होता है।

इस रूप में परमात्मा सौन्दर्य से भरा है, उसका सारा दृष्टिकोण सुन्दर से भरा है, उसकी बनायी हर चीज में सौन्दर्य की सृष्टि हुई है। इस सौन्दर्य दृष्टि को निखारने का कार्य करने की क्षमता केवल गुरु के पास है। इसलिए गुरु, परमात्मा से भी पहले आने वाला तत्व है। वह सौन्दर्य को उद्घाटित भी करता है, उससे रू-ब-रू करवाता है और शिष्य को सौन्दर्यबोध से लबालब कर देता है। गुरु की नज़र में समानता का अद्भुत सौन्दर्य होता है। वह सभी शिष्यों को समान समझता है। समान शिक्षा-दीक्षा-परीक्षा-परिस्थिति देता है। इसी समानता के मूल्यबोध से संचालित गुरु विश्वामित्र और गुरु वशिष्ठ राम को महलों में नहीं जंगलों में ले जाकर ज्ञानवान समर्थ इंसान से भगवान बनने की शिक्षा प्रदान करते हैं अर्थात् राम को विराट प्रकृति के सौंदर्य की दीक्षा देते हैं। प्रकृति की प्रकृति को साहचर्य रूप में समझने की क्षमता प्रदान करते हैं। इस समझ की समझ को विकसित करना ही गुरुओं ने शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बतलाया है। 'उद्गीत' इसी पथ पर अग्रसर रहे—इसी कामना के साथ इस अंक में साहित्य की प्राचीन नित्य-नूतन विधा—नाटक के माध्यम से सौन्दर्य के उद्घाटन का प्रयास हुआ है।

नववर्ष 2025 की शुभकामनाओं सहित!

वीरेन्द्र भारद्वाज

●

समयबोध का नाटककार भारतेंदु

रमेश गौतम

परिवेशगत सच्चाई, या कहें कि यथार्थ की मजबूत पकड़ और वातावरण-विज्ञान की जितनी समझ भारतेंदु हरिश्चंद्र को थी उतनी शायद ही किसी अन्य हिन्दी रंगकर्मी/नाट्यकर्मी की रही हो। भारतेंदु हरिश्चंद्र 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की देन हैं। उनका युग संक्रांति का युग था। अंग्रेजों की औद्योगिक क्रांति का प्राचीन शिक्षा और उद्योग-धंधों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि तत्कालीन समाज का बुद्धिजीवी सोच नहीं पाता था कि इस संक्रांतिकाल में क्या करें और क्या न करें। उसकी गति साँप-छछूंदर की हो गयी थी। औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप इस सदी में यूरोपीय पूँजीवाद पनपने लगा था जिसका सर्वाधिक शुभ-परिणाम यह हुआ कि 1857 के विद्रोह से असफल एवं हताश भारतीय जनमानस में पुनः पश्चिमी एवं अरब राष्ट्रों से लेकर सुदूर पूर्व में राष्ट्रीय आंदोलन की देखा-देखी प्रच्छन्न तरीके से पुनः राजनीतिक संघर्ष की शुरुआत हो गयी थी।

उधर, कहने को तो भारतीय राजनीतिक-पटल पर सन् 1885 ई. में कांग्रेस महासभा का उदय हो गया था, लेकिन मूल कार्य उस समय की राजनीतिक पार्टियाँ कम जबकि सामाजिक-धार्मिक नेता व जागरूक साहित्यकार अधिक कर रहे थे। सन् 1857 के बाद करीब-करीब सन् 1880 ई. तक अंग्रेजों ने मुसलमानों व हिंदुओं पर अपना दमन-चक्र जारी रखा लेकिन जब इस अत्याचार से उन्हें भीतरी विरोध तथा विद्रोह की गंध आने लगी तो राजनीतिक दृष्टि से कूटनीति बरतते हुए हिंदुओं और मुसलमानों के बीच पहले से चले आते हुए सांप्रदायिक मतभेदों की खाई को उन्होंने और अधिक चौड़ा कर दिया। भारतेंदुयुगीन लेखकों एवं पत्र-संपादकों ने इस पर गहरी प्रतिक्रिया व्यक्त की। वस्तुतः एक साफ राजनीतिक लाइन के अभाव में उस युग का सचेतक साहित्यकार उदारवादी भावनाओं को अधिक तरजीह दे रहा था। भारतेंदुयुगीन लेखकों एवं पत्र-संपादकों ने इस पर गहरी प्रतिक्रिया व्यक्त की। भारतेंदु का स्वर इन सब रचनाकारों में सर्वाधिक ऊर्जस्व था। संभवतः वे जानते थे कि सामरिक दृष्टि से भारत अंग्रेजों को मात नहीं दे सकता। वे सामाजिक और प्रशासनिक सुधारों पर जोर देते हुए ब्रिटिश सत्ता को शब्दों की मार देना चाहते थे। 'भारत-दुर्दशा' नाटक में वे लिखते हैं—''हमने एक दूसरा उपाय सोचा है, एजुकेशन की एक सेना बनायी जाए, कमेटी की फौज। अखबारों के शस्त्र और स्पीचों के गोले मारे जाएं। आप लोग क्या कहते हैं?'' (भारतेंदु ग्रंथावली, भाग-1 पृ. 487) इसके अतिरिक्त उन्होंने अंग्रेजों की औद्योगिक क्रांति से बढ़ती हुई महंगाई, बेकारी, टैक्सों की भरमार, फिजूलखर्ची, फैशन आदि से चरमरायी देश की अर्थव्यवस्था का भी व्यंजनापूर्ण चित्रण किया।

भारतेंदुयगीन समाज में सामाजिक व धार्मिक रूढ़ियाँ अपनी अति पर थीं। बाल-विवाह, बेमेल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध जैसी वैवाहिक रूढ़ियाँ मुँह बाए खड़ी थीं। नारी वर्ग उपेक्षित था। स्त्री-शिक्षा महज एक सपना थी तथा धार्मिक कर्मकांड तो अनपढ़ से लेकर पढ़े-लिखे समाज तक इस कदर छाये हुए थे कि विवेक की रोशनी भी वहाँ जाते हुए डरती थी। ऐसे में स्वामी दयानंद, रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद प्रभृति महापुरुषों ने समाज को विसंगति विहीन बनाने का गुरुतर दायित्व संभाला। भारतेंदुकालीन रचनाकारों पर इन विद्वानों द्वारा चलाये गये युगीन सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। यही कारण है कि इस युग में साहित्य और चिंतन को नये उन्मेष के साथ प्रकट किया। भारतेंदु न केवल उन सब में अग्रणी थे बल्कि आने वाली पीढ़ी के प्रेरक भी थे। उनका व्यक्तित्व गजब का व्यक्तित्व था। अपने अतीत गौरव की संदर्भ सापेक्षता में जनजीवन की भाषा लेकर जब उन्होंने लिखना शुरू किया था तब वह प्रायः अकेले थे। बाद में उनके जीवंत व्यक्तित्व ने वह कमाल दिखाया कि एक भारतेंदु-मंडली ही तैयार हो गयी। उनकी नाट्यधर्मिता और रंग-चेतना लोकधर्मिता से अटूट रूप से जुड़ी हुई है। देशभक्ति की अटूट भावना से प्रेरित होकर ही उन्होंने अपने युग की जीवंत समस्याओं के प्रति जागरूक रुख अपनाया और जनसमाज को प्रबुद्ध करने का स्तुत्य प्रयास किया। उनके विचार से अब यह आवश्यक नहीं है कि अलौकिक विषयों का आश्रय लेकर नाटक आदि का प्रणयन किया जाए। वे केवल उन्हीं प्राचीन रीतियों व पद्धतियों का अनुकरण करना चाहते थे कि जो आधुनिक सामाजिक पीठिका में ग्राह्य हो सकती है। आँख मूँदकर परंपरा का पालन करने का दुष्परिणाम उन्होंने देख लिया था। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अंधेर नगरी', 'नीलदेवी' तथा 'भारत-दुर्दशा—आदि नाटकों में उन्होंने देश की सामाजिक-राजनीतिक तथा धार्मिक व आर्थिक क्षेत्रों में संबंधित समस्याओं को गंभीरता के साथ प्रस्तुत किया है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में उन्होंने अपने समकालीन युग-यथार्थ का व्यंग्यात्मक विश्लेषण किया है। पुरोहित, राजा, मंत्री, यमराज, दूत व नरकलोक के मिश्रित वर्गीकरण जैसे—सूचीमुख नरक, कुंभीपाक नरक, रौरव नरक आदि पात्रों के माध्यम से अपने युग-यथार्थ का व्यंग्यात्मक विश्लेषण किया है। प्रश्न उठता है कि भारतेंदु को युगीन समस्याओं को अभिव्यंजित करने के लिए ऐसे मिथकीय तंत्र की आवश्यकता अनुभव क्यों हुई? वस्तुतः तत्कालीन राजनीतिक आंतक में अपनी आत्मा की आवाज को सीधे-सीधे कह देना न केवल मृत्यु-मुख में जाना था अपितु जनजीवन के लिए भी प्रगतिशील परंपरा में ऐसे तंत्रों के माध्यम से सांकेतिक अर्थ देते हुए उनकी रूढ़िगत चिंतन-परंपरा को बदलते रहने के लिए आवश्यक था। प्रस्तुत प्रहसन अपने यथार्थ में न केवल रूपवादी ढांचे में अपितु वस्तु-संदर्भ में भी प्रगतिशील है। नाटक का भेद प्रहसन अपनी शास्त्रीय परंपरा के केवल हँसी-मजाक के लिए प्रयुक्त किया जाता था। भारतेंदु की कलम से यह परंपरागत अर्थ टूटा और यहाँ

रह गया हँसी की आड़ में तत्कालीन व्यवस्था व उसकी मशीनरी पर किया गया व्यंग्य।

वस्तु संदर्भ में कार्ल मार्क्स ने अगतिशीलता के तहत धर्म और सत्ता के जिन संबंधों का विश्लेषण किया था तथा भारतेंदु के लिखने तक वह प्रचारित भी न होने पाया, उसे भविष्यदर्शी भारतेंदु ने पहले ही पहचान कर अपनी रचनाधर्मिता में उपस्थित कर दिया था। प्रस्तुत प्रहसन में यमराज के दरबार में चित्रगुप्त राजा के अतीत कर्मों का बहीखाता पेश करते हुए कहता है—''महाराज, सुनिए! यह राजा जन्म से पाप में रत रहा, इसने धर्म को अधर्म माना और अधर्म को धर्म माना, जो जी चाहा किया और उसकी व्यवस्था पंडितों ने ले ली, लाखों जीवों का इसने नाश किया और हजारों घड़े मदिरा के पी गया पर आड़ सर्वदा धर्म की रखी, अहिंसा, सत्य, शौच, दया, शांति और तप आदि सच्चे धर्म इसने एक न किए, जो कुछ किया वह केवल वितंडा धर्म्म-जाल किया, जिसमें मांस-भक्षण और मदिरा पीने को मिले, और परमेश्वर प्रीत्यर्थ इसने एक कौड़ी भी नहीं व्यय की, जो कुछ व्यय किया सब नाम और प्रतिष्ठा पाने के हेतु।'' (भा.ग्रं., सं. शिवप्रसाद मिश्र, पृ. 21-22) चित्रगुप्त का उपरोक्त कथन शासकवर्ग की चारित्रिक विशेषताओं को अभिव्यंजित कर रहा है। एकाध जगह व्यंग्य में स्थूलता आ गई है, जहाँ उन्होंने राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' की राजभक्ति पर प्रहार किया है—

यमराज : प्रतिष्ठा कैसी, धर्म और प्रतिष्ठा से क्या संबंध?

चित्रगुप्त : महाराज सरकार अंग्रेज के राज्य में जो उन लोगों के चित्तानुसार उदारता करता है, उसको 'स्टार आफ इंडिया' की पदवी मिलती है।

(भा.ग्रं, पृ. 21-22)

ऐसा नहीं है कि भारतेंदु मार्क्सवादियों की तरह नास्तिक बन गये हों, लेकिन धर्म के संबंध में उनके विचार बड़े प्रगतिशील थे। वे यह कदापि नहीं मानते कि धर्म का सीधा संबंध खान-पान से है, लेकिन उन्हें इस बात पर घोर एतराज था कि धर्म की आड़ लेकर ये सब कुछ किया जाए। उनका वैष्णव मत धार्मिक सहिष्णुता का समर्थक था। उसमें वितंडावाद के लिए कोई जगह नहीं थी। उनके लिए वह धर्म मान्य था जो पहले कभी कबीर, नानक, दादू और रैदास ने दिया और आगे चलकर जिसके लिए नामदेव और गांधी ने अपनी जोरदार आवाज पेश की। वस्तुतः उन्हीं के बीच की कड़ी थे—भारतेंदु। उनके लिए धर्म का आधार था श्रद्धा, करुणा, सत्य, प्रेम और अहिंसा। उनके युग में धर्म की स्थापना के लिए आधारभूमि मिली महर्षि दयानंद और केशवचंद्र सेन से—यद्यपि बहुत-सी बातों में वे इन मनीषियों से असहमत भी थे। उन्होंने न केवल धार्मिक दृष्टि से बल्कि तत्कालीन सामाजिक रूढ़ियों पर भी प्रहार किया और मिथकीय संगति में अपनी युग-सापेक्षता के अंतर्गत वे विधवा-विवाह का समर्थन करते नजर आते हैं :

''पुनर्विवाह अवश्य करना। सब शास्त्र की यही आज्ञा है, और पुनर्विवाह के न होने से बड़ा लोकसान होता है, धर्म का नाश होता है, ललनागन पुंश्चली हो जाती है, जो विचार कर देखिए तो विधवागन का विवाह कर देना उसको नरक से निकाल लेना है और शास्त्र की भी यही आज्ञा है।'' (भा.ग्रं., पृ. 9)

इस प्रकार वे नारी-जाति के उत्थान व उद्धार के लिए प्रयत्नशील थे।

शासक वर्ग की पतनशीलता तथा धर्माचार्यों से उसके भ्रष्ट संबंध भी नाटककार की पैनी दृष्टि के शिकार हुए हैं। जहाँ से यह प्रहसन आरंभ होता है वहीं सूत्रधार राजा को न केवल गृद्धराज कहता है बल्कि उसके डर से भाग जाना चाहता है। प्रथम अंक में रक्त से रंगे हुए राजभवन की रंगधर्मिता इस गृद्धराज का चरित्र-विस्तार है और अंत में जब चौबदार महाराज से कहता है कि 'संध्या भई महाराज' तो राजा 'सभा समाप्त करो' का आदेश देता है। यह प्रतीकात्मकता प्रथम अंक के उस संदर्भ से शुरू होती है जब मांस-लीला का प्रकरण समाप्त होता है और उनके पुरोहितों जैसे चाटुकारों द्वारा नारी-प्रसंग आरम्भ होता है। ऐसे में मिथकीय संकेत उस आयाम पर पहुँचते हैं जहाँ राजा अपने अधिकार के दम पर प्रजा के प्रति अपने कर्त्तव्यों को छोड़—मांस-मैथुन को ही अपना लक्ष्य मान लेता है। भारतेंदु के संकेत में यह राजा और कोई नहीं, ब्रिटिश राज है और उसके राज में चौबदार के शब्दों में, ''संध्या' महज वह अंधेर है जिससे प्रजा त्रस्त है।'' (भा.ग्रं., पृ. 10) धर्मभीरु प्रजा के शोषण में पुरोहित की भूमिका उल्लेखनीय रही। पुरोहित ही सत्ता के साथ साँठ-गाँठ करके धर्म की स्वार्थगत व्याख्याएँ देता है। अतः तीसरे अंक में, जब मंत्री और राजा नशे में धुत पुरोहित को एक सिर से पकड़ता है और दूसरा पैर से और फिर वे नाचने लगते हैं, तो ऐसे संवाद में समसामयिक अर्थ गहराने लगता है। पुरोहित के सिर को पकड़ता है राजा क्योंकि उसी की स्वार्थगत धर्म-व्यवस्था से वह जनता को मूर्ख बनाता है और मंत्री पकड़ता है चरण क्योंकि राजा के विलास में मंत्री भी हिस्सेदार हो जाए, उसमें पुरोहित का आशीर्वाद संभवतः आवश्यक है।

तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था और उसके कारण तत्कालीन शासन द्वारा किये जाने वाले शोषण का संकेत करते हुए नाटककार भारतेंदु यमराज रूपी प्रजा द्वारा उनकी सजा का जो फैसला देते हैं, वह मूलतः फैसला नहीं है बल्कि यथार्थ की धरती पर रचनाकार का स्वप्न है, इसीलिए शायद अंत में अपने इस सपने को भारतेंदु उथले रूप में कह गये हैं—

''निज स्वारथ को धरम दूर या जग सौं होई
ईश्वर पद में भक्ति करें छल बिनु सब कोई
खल के विष-बैनन सौं मत सज्जन दुःख पावै
छुटै राजकर मेघ समय पै जल बरसावै।''

(भा. ग्रं., पृ. 27)

इस तरह 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में जहाँ समाज के धर्माडंबर एवं उससे संबंधित सत्ता समेत अनेक स्वार्थी तत्त्वों को हास्य और व्यंग्य के माध्यम से उघाड़ने का प्रयास किया है, वहाँ 'अंधेर नगरी' में उसी 'हास्य-व्यंग्य' का अपेक्षाकृत अधिक मुखर व पैने शब्दों में आधार लेकर युगीन राजनीतिक व्यवस्था पर जोरदार मिथकीय प्रहार है। लोककथा पर आधारित इस नाटक से उत्पन्न हास्य-व्यंग्य भारतेंदु के अपने युग के राजनीतिक यथार्थ से बहुत गहरे तक जुड़ा हुआ है। आलोचकों ने 'अंधेरी नगरी' के कई लौकिक स्रोत ढूँढे। एक आलोचक के अनुसार बिहार प्रांत के किसी जमींदार के अन्याय को लक्ष्य करके इस लोककथा को भारतेंदु द्वारा नाटक का रूप प्रदान किया

गया था। स्रोत यह हो या कोई और, यह निश्चित है कि इस लोकश्रुति का आधार कहीं-न-कहीं किसी हिन्दी प्रदेश से जुड़ा हुआ है और जहाँ भी, जब भी राजा की प्रजा के प्रति उदासीनता व उसके विलास-वैभवों का चरम व इससे उत्पन्न अराजकता उत्पन्न हुई है वहीं यह कहावत जनमानस की जिह्वा पर अवश्य आई होगी। हाँ, यह बात और है कि इसे रचनात्मक संदर्भ देने की सामर्थ्य भारतेंदु जैसे एक-आध लोगों ने ही पेश की हो। एक-आध इसलिए कि भारतेंदु ने जब यह नाटक लिखा तो उसकी परंपरा कहिए या नकल में दो-एक नाटक लिखे गये थे, लेकिन उन नाटककारों के व्यक्तित्व का अभाव कहिए या जनश्रुति के आधार पर संदर्भ सापेक्षता की पकड़ में कमजोरी कि वे नाटक नहीं चले। भारतेंदु ने जिस लौकिक मिथ को संदर्भ सापेक्षता दी है, उसके अनुसार एक अंधेर नगरी थी जिसमें चौपट राजा राज करता था। उसके बाजार में कबाब वाला, घासीराज अर्थात् भड़भूजा, नारंगी वाला अर्थात् फल वाला, हलवाई, कुंजड़िन अर्थात् सब्जी वाला, मुगल अर्थात् बादाम-पिस्ते वाला, पाचक वाला अर्थात् चूर्ण वाला, मछली वाला, बनिया, जात-पांत की रखवाली करने वाला ब्राह्मण यानी कुल मिलाकर सब कुछ का भाव टके सेर था। ऐसे नगर में एक महंत अपने दो शिष्यों—नारायणदास व गोबरधन के साथ आ निकले। ऐसे नगर जहाँ टके सेर भाजी टके सेर खाजा हो—में रहना महंत खतरे से खाली नहीं समझता किंतु महंत का शिष्य गोबरधन अंधेर नगरी में ही रहने की इच्छा प्रकट करता है। एक बार चौपट राजा के दरबार में एक फरियादी आया। कल्लू बनिये की दीवार गिरने से उसकी बकरी नीचे दबकर मर गई थी। राजा ने अजीब न्याय किया—दीवार से जितने भी लोग संबंध रखते थे—जैसे कल्लू बनिया, कारीगर, चूने वाला, चूने में पानी डालने वाला, भिश्ती, भिश्ती बनाने वाला कसाई, कसाई-मसक से संबंधित गड़रिया, सबको एक-एक कर आँख मींचकर अपराधी ठहराया गया और इसी तरह सबने अपने अपराध दूसरे के जिम्मे डालकर अपनी छुट्टी कर ली। अंततः पकड़ में आया कोतवाल। न्याय हुआ कल्लू बनिये की दीवार गिर पड़ने से फरियादी की जो बकरी दबकर नीचे मर गई उसके अपराध में कोतवाल को फाँसी दी जाये। बेचारे कोतवाल की गर्दन पतली और फाँसी का फंदा बड़ा। अंधरे नगरी की प्रजा हो या प्रशासनिक व्यवस्था, उनकी गर्दन मोटी हो भी कैसे सकती है—''एक तो नगर भर में राजा के न्याय के डर से कोई मुटाता ही नहीं'', (भा.ग्रं., पृ. 180-181), फलतः पकड़ा गया गोबरधनदास घबराया तो उसने गुरु का स्मरण किया। गुरु ने मंत्र दिया—''राजा! इस समय ऐसा साइत है कि जो मरेगा सीधा बैकुंठ जाएगा।'' (भा. ग्रं., पृ. 183) फिर क्या था, मंत्री से लेकर राजा तक सब फाँसी पर चढ़ने को तैयार हो गये। राजा के सामने आखिर किसकी चल सकती थी—''चुप रहो, सब लोग, राजा के आछत और कौन बैकुंठ जा सकता है। हमको फांसी चढ़ाओ, जल्दी, जल्दी।'' (भा. ग्रं., पृ. 184) और इस तरह भारतेंदु द्वारा नियोजित लोककथा समाप्त।

छः दृश्यों में विभाजित आलोच्य प्रहसन की सबसे बड़ी विशेषता उसके वस्तु संदर्भ का समय-सापेक्ष होना है। मूलतः 'अंधेर नगरी' अंग्रेजी राज्य के वातावरण में लिखी गयी। जाहिर है कि लार्ड मैकाले की शिक्षा-नीति के प्रचार-प्रसार के बाद प्रशासकीय व्यवस्था में अंग्रेजी की कामचलाऊ शिक्षा ने वह असर किया था कि अनपढ़ जैसे लोग हाकिम बन गये थे और चाणक्य की तरह चिंतक उपेक्षित होकर अपनी झोंपड़ियों में पड़े थे। परिणामतः पूरे वातावरण में एक अंधेरगर्दी थी। कबाब वाला हो या चनाजोरगरम वाला, नारंगी वाला हो या हलवाई, कुंजड़िन हो या मेवा बेचने वाला, यहाँ तक कि जात बेचने वाले ब्राह्मण भी अपना वेश और पेशा दोनों बदलते नजर आ रहे थे। इस संदर्भ में भारतेंदु मेवाफरोश पठानों के प्रति जागरूक अवश्य रहे हैं क्योंकि केवल वे ही थे जिन्होंने अंग्रेजों का बहादुरी के साथ मुकाबला किया था। इसीलिए अपनी प्रासंगिकता में पठान के इस गर्व को शब्दांकित करते हुए वे नहीं चूकते—''आमरा ऐसा मुल्क जिसमें अंगरेज का भी दांत कट्टा ओ गया। नाहक को रुपया खराब किया।'' (भा. ग्र., पृ. 170) लेकिन इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण वह प्रासंगिकता है जहाँ व्यवसायी एवं अर्धव्यवसायी वर्ग ने अंग्रेजी राज्य में पूँछ हिलाओ व्यवहार शुरू कर दिया था और उससे भी अधिक शर्मनाक तथ्य जाति-परिवर्तन का था जिसे बड़े हास्य-व्यंग्यात्मक तरीके से भारतेंदु ने इस प्रहसन में अभिव्यक्त किया है। घूम-फिरकर 'अंधेर नगरी' का पूरा रचना-संसार अंग्रेजी साम्राज्यवाद पर चोट करता है—''जैसी काजी वैसा पाजी। रैयत राजी टके सेर भाजी। ले हिंदुस्तानी का मेवा फूट और वैर।'' (भा. ग्रं., पृ. 170)

प्रस्तुत नाटक का पात्र महंत महज महंत नहीं बल्कि विवेक और संपन्नता का प्रतीक है और इसीलिए वह जब इस 'अंधेर नगरी' में प्रवेश करने का निषेध करता है तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह पलायन का रास्ता अपनाता है बल्कि अपनी प्रतीकात्मकता में वह वहाँ रहकर भी अपनी सजगता में अपनी शिष्यमंडली को जागरूक बनाए रखना चाहता है। गोबरधनदास जैसे अवसरवादी जब विवेक की बातें नहीं सुनते तो ब्रिटिश राज्य की उस न्याय-विडंबना के चक्कर में आ जाते हैं। व्यंग्य का तीखापन ऐसे हास्य-प्रसंगों में उपस्थित किया गया है जहाँ हँसे बिना भी नहीं रहा जाता लेकिन व्यंग्य का तीखापन वहाँ दबता भी नहीं है। चौपट राजा के न्याय दरबार में यद्यपि एक अतिरंजना है, लेकिन उस अतिरंजना में एक गहरा प्रतीकात्मक यथार्थ है। राजा नशे में है तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह शराब पीकर नशा करता है, वरन् उसे अधिकार का नशा है, अपनी कूटनीतियों से पाये फूट के परिणामों का नशा है और उससे आतंकित व दबी हुई जनता को जुहार कहते हुए शरणागत स्थिति में देखने का नशा है। कुल मिलाकर 'अंधेर नगरी' में अंग्रेज सरकार की क्रूरता, कुटिल नीतियों, अन्यायकारिता व दमनकारी चरित्र का खाका-सा खींचा गया है। जन-जीवन से लेकर प्रशासन व्यवस्था तक का ऐसा आतंक और वह भी लोककथा की हास्य-व्यंग्यपूर्ण सीधी-सादी किंतु गहरी भाषा में उपस्थित करना मूलतः भारतेंदु जैसे औघड़ व्यक्तित्व के ही बस की बात थी।

अपने वर्तमान में रहकर रचनाकार जब अपने बीते हुए समय को अपना वर्ण्य बनाता है तो युगीन प्रासंगिकता और जन-आकांक्षा दोनों ही उसके सामने होनी चाहिए। भारतेंदु अपने समय के पहले

नाटककार थे जिन्होंने अपने युग के अंतर्विरोध को, उसकी प्रासंगिकता को अतीत के गर्भ में छुपी लोकश्रुतियों में ढूँढा और कला-बिंबों में उनको इस तरह प्रस्तुत किया कि वे अपने युग की समस्याएँ और अपने समय का संघर्ष दिखा सके। उन्होंने अपनी रचनाओं में जो भी वर्ण्य उठाया उसका सूत्र जन-आकांक्षा से जुड़ा हुआ था। इसीलिए भारतेंदु इतिहास कभी नहीं बन सकते वह आने वाले समय में हमेशा वर्तमान को चुनौती देते दिखाई देंगे। इतिहास प्रेरित 'नीलदेवी' नामक नाटक इसका ज्वलंत प्रमाण है। उक्त नाटक में भारतेंदु ने बसंत नामक पागल के माध्यम से अंग्रेजों के दमन और शोषण के खिलाफ संघर्ष और सशस्त्र क्रांति की भावना का बेबाक उद्घाटन किया है। बसंत पागल बनकर ही भटकी हुई जनता को चौराहे पर खड़ा होकर सत्ता के आतंक की परवाह न करके अपनी आवाज सुनाता है—

"मार मार मार! हमारा देश हम राजा हम रानी। हम मंत्री। हम प्रजा। और कौन? मार मार मार। तलवार तलवार। टूट गई टूटी। टूटी से मार। ठेले से मार हाथ से मार। मुक्का जूता लात लाठी सोटा ईंट पत्थर...पानी सबसे मार हम राजा हमारा देश हमारा भेस हमारा पेड़ कपड़ा लत्ता जूता छाता सब हमारा। लै चला लै चला। मार मार मार...जाय न जाय न।"

(भा. ग्रं., पृ. 177)

वस्तुतः यही एक दृश्य है जहाँ एक पूरा ऐतिहासिक परिवेश अपने यथार्थ में मुगल एवं ब्रिटिश राज्यसत्ता पर दोहरी मार करता है और यह ऐतिहासिक प्रसंग भारतेंदु के युग में ज्वलंत हो उठता है। यों भी भारतीय परंपरा में नारी जाति काफी उपेक्षित रही है और राष्ट्रीय चिंता-धारा में उसका योगदान नगण्य मात्र ही माना जाता रहा है। जागरूक भारतेंदु को यह बात काफी खली है और 'नीलदेवी' उसी के अभाव की पूर्ति का मिथकीय प्रयास है। नाटक के श्रीगणेश में 'दुर्गापाठ' की स्तुति अपनी सांकेतिकता में नारी के क्रांतिकारी रूप का मिथकीय स्वप्न है और यदि सृजन के स्तर पर खोजा जाए तो दसवें दृश्य में नीलदेवी अमीर से प्रतिकार लेने के लिए नर्तकी बनकर जाती है तो अपना नाम 'चंडिका' बताती है। भारतेंदु को राष्ट्रीय-मुक्ति के स्वप्न में नारी का संभवतः यही रूप पंसद था क्योंकि सशस्त्र क्रांति का स्वप्न देखने वाला नीलदेवी को दुर्गा अथवा चंडी के अतिरिक्त सोच भी क्या सकता है।

नीलदेवी जो महाराजा सूर्यदेव की पत्नी और सोमदेव की माता है, अपने पति सूर्यदेव के मुगलों के हाथों मारे जाने पर, जो क्रांतिकारी रूप धारण करती है, वह भारतेंदु के युग में ब्रिटिश राज्य की बदलती हुई युद्ध-नीतियों में भी उतना ही अनिवार्य एवं कारगर था जितना वह अपने अतीत में हुआ और इसका श्रेय भारतेंदु ने दिया नारी-जाति की प्रतिनिधि नीलेदवी को। धोखे से सूर्यदेव की मृत्यु के बाद मुगलों से प्रतिशोध लेने का भाव एक तरफ जहाँ सोमदेव और उनके राजपूतों में था तो दूसरी तरफ नीलदेवी में यह आग सुलग रही थी लेकिन तरीके अलग-अलग थे। सोमदेव परंपरागत राजनीतिक आन-बान से बदला लेने को उतारू था तो नीलदेवी 'शठेशाठ्यम् समाचरेत' की नीति पर चलकर युद्ध-संहिता में संशोधन करना चाहती थी। नीलदेवी की दृष्टि में राष्ट्र के महत्त्वपूर्ण मसले क्रोध अथवा आवेश में हल नहीं होते और न ही सूर्यदेव अथवा सोमदेव के धर्मयुद्ध की हठ से हल हो सकते। यदि उसी समय नीलदेवी की समयानुकूल नीति को मान लिया गया होता तो शायद आज यह नौबत न आती। नीलदेवी के माध्यम से जहाँ यह नाटक का केंद्रीय संदेश है, वहाँ अपनी संदर्भ सापेक्षता में विवेक-संपन्न नारी की स्थापना है जो शत्रु को उसी के हथियारों से मारकर सती हो जाती है। संक्षेप में 'नीलदेवी' के अतीतोन्मुखी परिवेश में तत्कालीन संदर्भ बड़े प्रखर रूप में सामने आए हैं। कहीं भी रचनाकार युग की वस्तुस्थिति से विमुख नहीं जान पड़ता। उन्होंने अपने नाटकों में देश और हिंदू समाज की तत्कालीन दुर्दशा का यथार्थ चित्रण इस रूप में किया कि उन्हें पढ़कर सचेत पाठक का मन उसे बदलने के लिए व्यग्र हो उठे। 'नीलदेवी' में कथा के ऐतिहासिक आधार को ग्रहण करने पर भी नाटक सामयिक समस्याओं से स्पंदित है। भारतेंदु ने प्रस्तुत नाटक में अपनी सामाजिक और राजनीतिक जागरूकता का परिचय दिया है। नाटक के पात्र, प्रसंग और वातावरण की दृष्टि से ऐतिहासिक होने पर भी नाटककार का मूल कथ्य अंततः नारी उद्‌बोधन व नारी जागरण ही है जिसके बिना राष्ट्र की उन्नति संभव नहीं।

जन-आकांक्षा के नायक भारतेंदु ने अतीत-गौरव के नाम पर उस सामंती चिंतन का पिष्टपेषण नहीं किया, जिसमें जाति-गौरव के नाम पर वर्ण-व्यवस्था की सुरक्षा थी और जागतिक कर्मों के एकाधिकार सुरक्षित थे। कुछ तथाकथित आधुनिक आलोचक भारतेंदु पर सांप्रदायिकता का आक्षेप लगाते नजर आते हैं। वस्तुतः 'नीलदेवी' के कथ्य में अब्दुरशरीफ एक मुसलमान के रूप में नहीं बल्कि वर्ग-विशेष के अंतर्गत शासक का प्रतीकार्थ बनकर आया है। यदि वह अपनी प्रजा पर थूकता है, शोषण करता है, अत्याचार करता है अथवा अतिवादी दृष्टिकोण उपस्थित करता है तो यह संघर्ष शासक और शासित का है, हिंदू और मुसलमान का नहीं। यहाँ प्रश्न किसी जाति-विशेष का नहीं रह जाता बल्कि वर्ग-विशेष से आ जुड़ता है। आलोच्य नाटक में नाटककार ने मुसलमानों की नहीं, बल्कि प्रभुता की शासकीय मनोवृत्ति की निन्दा की है। ब्रिटिश शासन से मुक्ति की कामना ही उनकी देश-प्रेम की भावना का मूल-मंत्र है। यह कहा जाए कि आलोच्य नाटक का शरीर ऐतिहासिक होते हुए भी उसकी आत्मा में रचनाकार तत्कालीन सुषुप्त राष्ट्रीय गौरव का आह्वान करता है, जो कि पुनर्जागरणकालीन प्रवृत्ति का ही परिचायक है—तो अनुचित न होगा।

भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटकों में निहित संदर्भ सापेक्षता के परिप्रेक्ष्य में 'भारत-दुर्दशा' की चर्चा न की जाए—तो यह नाटककार के साथ अन्याय होगा। प्रस्तुत नाटक में तत्कालीन जीवन की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक जीवन की यथार्थ प्रतिकृति मुखरित हुई है। भारत की दयनीय एवं हीन दशा से नाटककार की चेतना ही मानो योगी की लावनी के रूप में बरबस फूट पड़ती है :

"रोअहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।"

(भा. ग्रं., पृ. 133)

तत्कालीन राष्ट्रीय जीवन की स्थिति से प्रेरित होकर लिखे इस

नाटक के सभी पात्र प्रतीकात्मक हैं—भारत, भारतदुर्दैव, भारतभाग्य, सत्यानाशी, फौजदार, रोग, आलस्य, मदिरा, अंधकार आदि। पाँचवे अंक में सभी पात्र सभापति, एक बंगाली, एक महाराष्ट्री, एक एडीटर, एक कवि और दो देशी महाशय अपने-अपने वर्ग के प्रतिनिधि हैं। भारतदुर्दैव दो दुर्भाग्यों का सूचक है। पहला दुर्भाग्य है—यवन और दूसरा दुर्भाग्य है—अंग्रेज। यह उसकी वेशभूषा से ही स्पष्ट हो जाता है। क्रूर आधा क्रिस्तानी आधा मुसलमानी वेष, हाथ में नंगी तलवार लिए वह कहता है :

''काफिर काला नीच पुकारूं तोड़ूं 'पैर औ' हाथ।
दूं इनको संतोष खुशामद, कायरता भी साथ।
कौड़ी-कौड़ी को करूं, मैं सबको मुहताज।
भूखे प्राण निकालूं इनका, तो मैं सच्चा राज।''

(भां. ग्रं., पृ. 137)

इससे भारतदुर्दैव की क्रूरता स्पष्ट है। भारत 'भारत' का प्रतीक है। उसकी दीन-हीन स्थिति का वर्णन नाटककार ने दूसरे अंक में इस प्रकार किया है—''फटे कपड़े पहिने, सिर पर अंर्धकिरीट, हाथ में टेकने की छड़ी, शिथिल अंग।'' उसके चारित्रिक दोष—भीरुता, निर्बलता, अशक्तता, शोक व व्यथाग्रस्तता, कायरता आदि—वस्तुतः भारतीयों के ही चारित्रिक दोष हैं। भारतदुर्दैव के हाथों उसकी वह दुर्गति होती है कि अंत में वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है और भारतभाग्य द्वारा प्रबोधित किये जाने पर भी निष्क्रिय-सा पड़ा रहता है। क्षुब्ध होकर भारतभाग्य कहता है कि अब इसके उठने की कोई आशा नहीं। अंत में खीझकर भारतभाग्य आत्मघात कर लेता है। वस्तुतः भारत सौभाग्य भारत को शुभ रूप में देखना, उसे अशुभ से बचाना, जाग्रत व उन्नत करना चाहता है। उसकी आत्मा भारत की शोचनीय स्थति से आहत होती है और अतीत में भारत की समृद्धि का स्मरण करता हुआ कहता है—''हाय! भारत को आज क्या हो गया है? क्या निःसंदेह परमेश्वर इससे ऐसा ही रूठा है? हाय! क्या अब भारत के फिर वे दिन आवेंगे? हाय! यह वही भारत है जो किसी समय सारी पृथ्वी का शिरोमणि माना जाता था।''

(भा. ग्रं., पृ. 155)

भारत सौभाग्य का यह रुदन उस हर भारतीय का रुदन है जो भारत को श्रीसंपन्न देखना चाहते हैं। यहाँ पर भारतेंदु ने वर्तमान की दयनीय दशा को अतीत का स्मरण करके और भी शोचनीय रूप में उपस्थित किया है। नाटककार ने अतीत और वर्तमान दोनों अवस्थाओं के परिप्रेक्ष्य में भारत को देखा है। इससे भारत की हीनावस्था का रूप बड़ा ही गहन और मार्मिक बन पड़ा है। भारतभाग्य अनेक प्रकार से भारत को जाग्रत करने के लिए उसके मर्म को अतीत वैभव का स्मरण दिलाकर प्रबोधित करना चाहता है, किंतु उसका प्रयत्न निष्फल ही सिद्ध होता है। अंत में वह क्षुब्ध होकर कहता है—''हा! भारतवर्ष को ऐसी मोहनिंद्रा ने घेरा है कि अब इसके उठने की आशा नहीं। सच है, जो जानबूझकर सोता है उसे कौन जगा सकेगा।''

(भा. ग्रं., पृ. 159)

नाटककार अतीत वैभव का स्मरण बार-बार करता है कि किसी प्रकार से आहत अभिमान होकर भारत जाग्रत हो सके किंतु जब उसे सफलता नहीं मिलती तो अत्यंत ही निराशापूर्ण स्थिति में उसके स्वाभिमान के लिए जीवित रहना दूभर हो जाता है। अपनी लीला समाप्त करने के अतिरिक्त भारतभाग्य को कोई अन्य मार्ग सुलभ नहीं लगता और वह कटार मारकर आत्महत्या कर लेता है। तब भी भारत की जड़ता यथावत् ही रहती है। निष्क्रिय-सा पड़ा रहता है। इस प्रकार इस दुःखांत नाटक के सर्जन के पीछे नाटककार का उद्देश्य तत्कालीन भारतीय जीवन के जर्जरित रूप का चित्रण करना ही था। अपने इस उद्देश्य में काफी हद तक उन्हें सफलता भी मिली। उस समय भारत अंग्रेजों की निरंकुश शासन-पद्धति से आक्रांत था। स्पष्ट रूप से उनके प्रति अपनी आत्मा की आवाज को उस समय का साहित्यकार कहने में असमर्थ-सा था। ऐसे में भारतेंदु ने उस समय जन-जन तक अपनी वाणी प्रचारित करने के लिए नाटक की पद्धति को उपयोगी अनुभव किया तथा भारतीय चेतना के हृदय में यह बात उतारने की चेष्टा की कि जब तक हम इन असद् प्रवृत्तियों (आलस्य, मदिरा, कायरता, निष्क्रियता, उत्साह हीनता आदि) से मनोबल को संचित कर जूझेंगे नहीं तब तक हमारा कल्याण दैव भी नहीं कर सकता। इस दृष्टि से प्रस्तुत नाटक की प्रासंगिकता या संदर्भ सापेक्षता पर किसी तरह का कोई प्रश्नचिह्न लगाने की गुंजाइश नहीं रह जाती।

अंत में भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटकों के संदर्भ में यही कहना है कि उनके अधिकांश नाटक मिथकीय कलेवर में अपने युग-संदेश को संप्रेषित करने में सफल रहे। तत्कालीन स्थितियों की वास्तविकता से लोकमानस को परिचित कराना और उन्हें उचित दिशा-निर्देश देने के गुरुतर दायित्व का निर्वाह—नाटककार की संदर्भ सापेक्षता को ही रेखांकित करता है। यद्यपि बालकृष्ण भट्ट 'वेणु संहार', राधाकृष्ण दास 'महारानी पद्मावती' प्रतापनारायण मिश्र 'भारत-दुर्दशा रूपक' तथा राधाचरण गोस्वामी 'अमरसिंह राठौर' आदि भारतेंदुयुगीन नाटकाकारों ने युगीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक विसंगतियों पर यथेष्ठ चित्रण किया है किंतु अधिकांश नाटककार सामाजिकों को उपदेश व शिक्षा देने के मोह से स्वयं को बचा न पाए दूसरा, भारतेंदु जैसी मिथकीय अभिव्यक्ति की क्षमता का भी इनमें प्रायः अभाव-सा था जिससे इनके नाटकों में तेज-तर्रार तेवर देखने को नहीं मिले।

कुल मिलाकर अतीत से वर्तमान को प्रभावित करने या उससे सुधार की चेष्टा में भारतेंदु हरिश्चंद्र शत-प्रतिशत सफल रहे। यही कारण था कि उनके नाटक तत्कालीन युग-संदर्भों में घुसकर जन-चेतना को आंदोलित कर रहे थे। संदर्भ सापेक्षता की विशेषता से संपन्न होने का परिणाम ही था कि भारतेंदु के नाटक अपने युग के सुधारवादी व उपदेश-प्रधान वातावरण से कहीं आगे के प्रतीत होते हैं।

पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

●

नई सदी के सवाल और 'प्रसाद' के नाटक

रमेश गौतम

आज जब संपूर्ण विश्व का तीन-चौथाई भाग अपनी आधी-अधूरी ज़िंदगी की ऊहापोह में बेमतलब जीने के लिए मजबूर है, वहीं सुविधाओं की गोद में ऊंघता 'जी' समाज अपने हर अच्छे-बुरे काम को उस मुँह देखे समाज से मनवाने की धौंस में लगा है। आर्थिक-सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के वर्चस्ववादी व्यावसायिक संत्रास के अलावा विकसित और विकसित होती मानव जाति को आज भी आदिमकालीन मौत का भय 'कैंसरीय वायरस' की तरह फैलते धर्मोन्माद एवं उपद्रवी आतंक के चलते आश्वस्त नहीं करता कि वे तथाकथित सभ्य-शिष्ट सिविल समाज में सुकून से जी लेंगे? ऐसी बेचैनी भरी स्थितियाँ किसी ठौर-ठिकाने तक पहुँचने नहीं दे रही हैं, जहाँ पहुँचकर आदमी मान ले कि उसकी जो यात्रा आदिम युग से शुरू हुई थी वह विकासमान समाज के इंसानी मूल्यों से संपृक्त हो पाई है। इन इंसान और इंसानियत विरोधी स्थितियों से उबारने की ठेकेदारी लिए बुद्धिजीवी जगत अपनी अलग दुकान सजाये है जो इस 'ऊपर की हवा' से छुटकारा दिलाने के नए-नए अवधारणात्मक टोटके प्रचारित करता रहा है, जिससे जमीनी यथार्थ से छिटका विभ्रम जन्म ले रहा है। उसे देरिदा या कि फूको में ही समस्त निदान दिखाई पड़ता है। हीन ग्रंथि उसे अपनी सांस्कृतिक-साहित्यिक धरोहर की ओर देखने ही नहीं देती। निज संस्कृति अभिमानी होने पर प्रतिगामी होने का दोष मढ़कर 'जी' और वाम समाज दोनों भारतीयों को उनकी सांस्कृतिक मंजूषा से दूर कर विपन्न बनाना चाहते हैं। ये नये रईस, जिनका अपना इतिहास और अपनी परंपरा की जड़े नहीं हैं, भारत जैसे देशों की सांस्कृतिक समृद्धि से भीतर ही भीतर आशंकित बने रहते हैं। वे बखूबी जानते हैं कि यही विरासत और संचित कोष किसी भी समाज को बुरे से बुरे समय में भी क्षय होने से बचा लेता है। उस 'जी' समाज की जी हजूरी करने वाला 'सूडो इंटेलैक्चुअल' वर्ग भी कोई राह नहीं दिखाता। ऐसे थके-हारे वातावरण में अपनों के पास बैठ कुछ ग्रहण करने का संतोष होता है। इन अपनों में प्रसाद के नाटकों की दुनिया सुखद अहसास जगाती है। दरअसल प्रसाद का साहित्य उन समस्त सवालों के जवाब देता है जिनसे दो-चार होने के लिए आयातित बौद्धिकता विलास भर होकर रह जाती है। उत्तर आधुनिक और उत्तर यथार्थवाद में लेखक की मौत का बाजा बजाने वालों के शोर के बीच भी प्रसाद जिंदा हैं जो कि इतिहास को साहित्य और साहित्य को इतिहास का उपजीव्य बनाने का विरोध करने वालों की साजिश का अपने ढंग से पर्दाफाश करते हैं। प्रसाद की वैश्विक मूल्यों वाली दृष्टि सधे ढंग से राष्ट्रीय इयत्ता का महत्त्व, स्त्री मुक्ति को यौनिक उच्छृंखलता से हटाकर नारी-शक्ति की अस्मिता की स्थापना, आतंकवाद, प्रांतीय संकीर्णता, जातिगत वैमनस्यता का संतुलित, संश्लिष्ट व कलात्मक उत्तर विश्वास के साथ अपनी विरासत में से ढूँढ़ती है।

देशकाल परिसीमन तथा भारतबोध के साथ विश्वबोध की दृष्टि से जयशंकर प्रसाद का चिंतन, संवेदन और सर्जन बड़ा गहरा है। उनके नाटकों की मूल्य व्यवस्था 'हिंदुस्तानी' भी है और 'इंसानी' भी। साहित्यकार राष्ट्रीय और इंसानी अहसास को जगाता भी है और जिलाता भी है—यही जागरण और पुनर्जागरण है और इसी रूप में आज हमें जागरण और पुनर्जागरण की उस ऐतिहासिक दृष्टि का विकास करना चाहिए जिसमें जयशंकर प्रसाद की रचनात्मक भूमिका बनी और सृजित हुई। यही उस 'वैल्यू सिस्टम' की निरंतरता है और यही उसका जिंदापन। इक्कीसवीं सदी के शुरूआती दौर में भारत अथवा वैश्विक संदर्भों में क्या प्रसाद के नाटकों को फिर से जाँचा-परखा नहीं जा सकता? क्या वे केवल 'स्वर्णयुगी दंभ' की 'सुपर कॉम्प्लेक्स' भावना के शिकार हैं? सार्वकालिक अथवा सार्वदेशिक सच्चाई का विचारवाही मूल्य-धरातल उनमें से आज के संदर्भों में क्या फिर से जीवित नहीं किया जा सकता? ये और इन जैसे तमाम प्रश्न प्रसाद के नाटकों की अंतर्वस्तु और उनकी प्रासंगिकता के सामयिक धरातल पर हमें समझने होंगे।

पूंजीवादी पश्चिम की वर्चस्ववादी और इस्लाम की जेहादी मानसिकता के ठंडे उबाल से इक्कीसवीं शताब्दी के शुरू में ही सभ्यताओं का संघर्ष होते-होते बचा। सांस्कृतिक राष्ट्रवादी भारतीय राजनीतिक मनीषा और 'जेहाद--प्रेरित 'पाकी' आतंकवाद तथा वैश्विक परिस्थितियों में इराक की 'शस्त्र-राजनीति' और आतंकवाद विरोधी कूटनीतिक अमरीकी धौंस के कारण ये खतरा अभी पूरी तरह टला भी नहीं है। मानव मूल्य-विरोधी संघर्ष की इन विश्व-परिस्थितियों के बीच राष्ट्रीय विखंडन का नजारा आज चारों तरफ नज़र आता है। आतंकवादी हिंसा, जातिवादी नफरत, सांप्रदायिक तनाव, प्रांतीय संकीर्णता राजनैतिक भ्रष्टाचार और जातीय विद्वेष के इस राष्ट्रघाती माहौल में जब पश्चिम की उपभोक्तावादी संस्कृति ने लगभग हमारा सांस्कृतिक चीरहरण पूरा कर लिया है, तब क्या हमें अपनी जड़ों को तलाश कर इंसानी नजरिए के साथ राष्ट्रीय/भारतीय इयत्ता को हासिल करने की जद्दोज़हदी शुरुआत नहीं करनी चाहिए। प्रसाद ने अपने नाटकों की मूल्य-व्यवस्था और संघर्ष-धरातल पर इन सभी यक्ष प्रश्नों को अपनी 'तीसरी आँख' से देख लिया था।

इतिहास गवाह है कि इस्लामी धर्मोन्माद और पश्चिम की व्यापारिक साम्राज्यवादी मानसिकता ने समय-समय पर दूसरे राष्ट्रों की स्वतंत्रता तथा जातीय अस्मिताओं को रौंदा है। शक्ति, सत्ता, मद और अर्थतंत्र की मज़बूत पकड़ की अकड़ में विश्व को हाँकने वाली साम्राज्यवादी ताकतों ने अपने प्रभुत्व-प्रदर्शन की अहंमन्यता से दूसरी सभ्यताओं में दासबोध पैदा करने में ही अपनी 'सुप्रीमो पावर' का डंका बजाया। इन वर्चस्ववादी ताकतों ने अपनी 'सुपर ईगो' से अन्य

सभ्यताओं, जातियों और राष्ट्रों को 'असभ्य' और 'काफ़िर' करार दिया। बर्बरता और आतंक के घटिया प्रयोगों की 'लैब' में अपने जुनूनियत के पागलपन को 'टेस्ट' करने, अपनी विस्तारवादी और दुनिया के संसाधनों पर एकाधिकार करने की बुरी नीयत से इन ताकतों ने विश्व को बुरी तरह कुचलने का कुचक्र समय-समय पर चलाया है। ऐसी जातीय सभ्यताओं और संस्कृतियों के उन्मादक उबाल को प्रसाद ने अपने नाटकों में प्रस्तुत तो किया, लेकिन उसे पूर्वपक्ष में रखा क्योंकि आस्था और संस्कार की प्रबल सांस्कृतिक और राष्ट्रवादी सोच तो उनके रक्तकणों में समायी हुई थी। इसलिए अपने स्वर्णिम अतीत की थाती में झाँकते हुए उन्होंने 'स्कंदगुप्त', 'चंद्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' जैसे नाटकों की रचना के माध्यम से उत्तर पक्ष में उसके समरसताजन्य, सुखद और स्थायी समाधान की ओर भी संकेत किया। प्रसाद की 'एप्रोच' विश्वबोध के साथ शुद्ध भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की रही। यही कारण है कि उन्होंने अपने नाटकों में अन्य सभ्यताओं और जातियों के संघर्ष का टकराव दिखाते हुए भी अंततः परिणाम में सहअस्तित्व और अपने समरसतावादी जीवन-दर्शन को ही स्थापित किया। अपनी कथनी और करनी में 'डरो और डराओ' की कुनीति पर डींगे हाँकने वाले हमेशा आक्रांता का 'रोल' निभाते रहे। दूसरे के दमन में ही अपने दंभ का प्रदर्शन करना उनका सिद्धांत रहा। 'लिव एंड लेट लिव' का नारा देने वाला पश्चिमी जगत छद्म आचरण में सदा ही विस्तारवादी औपनिवेशिक मानसिकता की लाइन पर चलता रहा। चाहे किसी जमाने में उसका यह चरित्र राजनैतिक रहा हो या आजकल उसका वह रूप पूरी दुनिया पर सांस्कृतिक और आर्थिक वर्चस्व स्थापित करने की कोशिश में दिखाई देता है। ठीक इसके विपरीत प्रसाद की दृष्टि 'मा गृधः कस्यस्विद्धनं' की रही है। किसी का न हमने छीना, न ही किसी का हमने दमन किया, उल्टे अपने रागात्मक भाव से दूसरे को सहर्ष घुलने-मिलने का न्यौता ज़रूर दिया। प्रसाद की यह मानवीय दृष्टि उनकी शिव तत्त्व के प्रति अटूट निष्ठा की झलक है। अपने को विश्व-धरातल पर हावी करने की होड़ वाली औपनिवेशिक मानसिकता के क्रूर अहंकार को प्रसाद ने अपने आत्मविस्तार की कोमल और गहरी प्रेम-भावना का पाठ पढ़ाया। 'चंद्रगुप्त' में कार्नेलिया का चरित्र प्रसाद की इसी विश्व-दृष्टि का मूर्त रूप है। यूनानी सेनापति सिल्यूकस की पुत्री कार्नेलिया का हृदय भारतवर्ष को ही 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' मानता है। कार्नेलिया का यह भारत-प्रेम प्रसाद की भारतीयता के प्रति अतिरिक्त आग्रहशीलता मानी जा सकती है। फिर भी, नाटक के अंत में चंद्रगुप्त और कार्नेलिया का परिणय वास्तव में दो सभ्यताओं और संस्कृतियों का 'कुटुम्ब भावना' में बंधना है। प्रसाद की यह विश्व परिवारवाद की स्थापना आज के 'ग्लोबल विलेज' से भी बहुत आगे जाकर उदात्त स्वरूप हासिल कर लेती है। निश्चित ही प्रसाद की यह विश्वदृष्टि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की विराट् भारतीय चिंतन-परांपरा का विस्तार करती है। उन्होंने अपने नाटकों में साम्राज्यवाद विरोधी चेतना के साथ जिन विश्व-मूल्यों की स्थापना करनी चाही है उनमें स्वराज्य और स्वतंत्रता मनुष्य के लिए मूलभूत प्राथमिक शर्तें हैं। इसीलिए जयशंकर प्रसाद यह घोषित करते हैं कि 'ईश्वर की बनाई हुई इस सृष्टि में हर मनुष्य स्वतंत्र है'। जो जातियाँ अपनी साम्राज्यवादी हिंसा से दूसरी सभ्यताओं को पदाक्रांत करने का सपना देखती हैं उनके खिलाफ प्रसाद प्रतिकार में पूरी प्रखरता से अपना शंकर नेत्र खोल लेते हैं, लेकिन अंततः कल्याणकारी कामना का अभीष्ट विचार ही संघर्ष की 'नियति' बनकर उनके नाटकों में उभरता है। अपने नाटकों में साम्राज्यवादी हिंसा का जवाब उन्होंने विजय-क्षणों में क्षमा और प्रेम से दिया है। ग्रीक, शक, हूण, पुष्यमित्र सभी जातियों और सभ्यताओं को भारत की शौर्य चेतना के हाथों पराजय के साथ क्षमा और प्रेम ही मिलता है। दमन और प्रतिहिंसा के रास्ते पर प्रसाद भारतीय जनचेतना को नहीं ले गये। 'स्कंदगुप्त' में प्रसाद ने हूणों के विकराल तांडव से अपने राष्ट्र को न केवल संरक्षित और सुदृढ़ बनाया अपितु जीतने के बाद उसे (खिंगिल को) क्षमादान देते हुए यह पाठ भी पढ़ाया है—''इस हूण को छोड़ दो और कह दो कि सिंध के पार के पवित्र देश में आने का साहस न करे।'' प्रसाद की यह सोच और 'एप्रोच' आज के संदर्भ में विशेष 'नोट' करने योग्य है जिसे कार्नेलिया के इस संक्षिप्त कथन में साकार देखा जा सकता है—''ग्रीक लोग केवल देशों को विजय करके समझ लेते हैं कि लोगों के हृदय पर भी अधिकार कर लिया।'' कार्नेलिया की इस साम्राज्यवाद विरोधी सोच द्वारा प्रसाद ने यहाँ यही स्पष्ट करना चाहा है कि जहाँ अन्य सभ्यताएँ दूसरे की संप्रभुता को पदाक्रांत करके ही अपनी श्रेष्ठता स्थापित करना चाहती हैं वहीं भारतीय सभ्यता दूसरे को आत्मसात करके सहर्ष अपनाने और आत्मीय बनाने में ही अपनी विजय मानती है। सभ्यताओं के संघर्ष में हिंसा-प्रतिहिंसा का यह दौर अमेरिका-इराक तथा पश्चिम और इस्लाम की लड़ाई के रूप में आज भी चल रहा है। महाशक्ति के हाथों एक सभ्यता रोंदी जाने पर बेबस फुफकार रही है और प्रतिघात के समय की प्रतीक्षा कर रही है। इन परिस्थितियों में पश्चिम की नव उपनिवेशवादी शक्तियाँ स्वयं डरी हुई पूरी दुनिया को डरा रही हैं। दुनिया के इतिहास में सभ्यताओं और संस्कृतियों की इस जातीय हिंसा से यदि मनुष्यता को संरक्षित करना है तो निश्चित ही हमें इक्कीसवीं सदी में भी प्रसाद की मूल्य-दृष्टि का सहारा लेना पड़ेगा। आतंकवाद ने आज पूरी दुनिया को हिला रखा है। पिस्तौल और बमों से विश्व आक्रांत है जिसने पूरी मानवता को रक्तरंजित किया हुआ है। 'राज्यश्री' में प्रसाद ने इतिहास के बहाने युद्ध, रक्तपात और हिंसा के विरोध में मानवीय करुणा का कथापट प्रस्तुत किया है जिसके संपूर्ण नाटकीय व्यापार से जो स्वर उभरता है, वह है—मानवता का, करुणा का, क्षमा का, उदारता का और इन सब के रहते लोक-सेवा के प्रति संकल्पशील राज्यधर्म का। 'अजातशत्रु' में भी करुणा के उदात्त सूत्र में बँधी गौतम बुद्ध की विश्वमैत्री, मानवता, अहिंसा और क्षमा की शांत सैद्धांतिक वाणी सुनी जा सकती है। कुल मिलाकर प्रसाद का नाटकीय व्यापार विश्वबंधुत्व और मानवता की कल्याण-कामना के प्रखर स्वरों को गुंजाता है। कहना न होगा इन सभी उदात्त भावों की आज विश्व को सबसे ज़्यादा ज़रूरत है।

इक्कीसवीं शताब्दी में भारत की यह राष्ट्रीय विडंबना है कि देश का बुद्धिजीवी और मध्यवर्ग राष्ट्रीय-सांस्कृतिक मनोभावों से निरंतर खाली होता जा रहा है। लंबे संघर्षों/आंदोलनों से हासिल राष्ट्र की संप्रभुता का उसके लिए कोई अर्थ नहीं रह गया है। लेकिन किसी भी राष्ट्र की संप्रभु अस्मिता के लिए यह प्राथमिक और अनिवार्य शर्त है कि उसके नागरिक देशप्रेम, त्याग, बलिदान और समर्पण आदि

विचारों से 'लैस' हों। यह कोई आदर्शलोक का भाववादी चिंतन नहीं, राष्ट्रीय इयत्ता के लिए परम आवश्यक शर्त है, किंतु इन उत्कट भावों और विचारों को प्रतिगामी तथा प्रतिक्रियावादी मान लिया जाना निश्चित ही भयावह राष्ट्रीय त्रासदी है। यह त्रासदी और गहरी हो जाती यदि देश का सिपाही बलिदानी जज़्बे के साथ कारगिल-संघर्ष में कुर्बानी देकर देश की भौगोलिक संप्रभुता की रक्षा न करता। देश की सीमाओं को सुरक्षित रखने वाले मरजीवड़े राष्ट्रप्रेम के जोश से लबालब भरे होते हैं तभी तो निश्चिंत होकर हम भी स्वतंत्रता का उपभोग कर पाते हैं और राष्ट्र की तरक्की संभव हो पाती है। आर्यावर्त के नागरिकों को स्वतंत्रता और शांति से रहने का यही अधिकार चाणक्य, स्कंदगुप्त, चन्द्रगुप्त, सिंहरण, पर्णदत्त, चक्रपालित, देवसेना, अलका, मालविका आदि नाटकीय चरित्र अपनी त्याग, बलिदान और संघर्ष चेतना से देश की सीमाओं को सुरक्षित रखकर ही दिलवा पाते हैं।

पश्चिमी जगत हमारे व्यक्तित्व और अस्तित्व-हरण की जो लगातार कोशिश कर रहे हैं और वे भूमंडलीकरण के छद्म सांस्कृतिक-आर्थिक युद्ध को तीसरी दुनिया में धड़ल्ले से परोस रहे हैं, उनके इस मुखौटे को न समझ पाने की वजह से हमारे बुद्धिजीवी अपने साहित्य और चिंतन में भूमंडलीकरण की डुगडुगी पीटे जा रहे हैं; यह जाने बिना कि इन देशों में भी चुनावी ढाँचा राष्ट्रीय मुद्दों पर ही खड़ा है। राष्ट्रवाद अमेरीका जैसे बाहुबली देश की केंद्रीय धुरी है। रही भूमंडलीकरण की बात! यह तो इन देशों द्वारा उदारीकरण के नाम पर प्रसारित हाथी दांत है। कहना न होगा, राष्ट्रवाद किसी भी देश के अस्तित्व-रक्षण की केंद्रीय धुरी है; मूलबीज है। तभी तो यह 'स्लोगन' सरकार ने हर चौराहे पर चिपकाया हुआ है—'देशप्रेम से बड़ा कोई धर्म नहीं।' इस देश के नागरिकों को इस देश की 'मिट्टी' और उससे उपजने वाली संस्कृति से प्यार करना ही चाहिए। ये न तो 'सामंतयुगीन चिंतन' है और न 'फासीवादी विचार' बल्कि तकनीकी विकास के युग में हर कोई देश अपनी जातीय जड़ों को तलाशने में जुटा है। अपनी जड़ों को तलाशने का यह विचार प्रतिगामी नहीं, प्रिय होना चाहिए। पश्चिम प्रभावित बौद्धिकता से हटकर हमें सोचना होगा कि हमारी सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के बीज 'आक्सफोर्ड' में हैं या 'तक्षशिला' में। अपने वजूद के स्मारक हमें तलाशने होंगे और इस इयत्ताबोध से प्रसाद के नाटक सराबोर हैं, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक मूल्यों की विपुल संपदा उनमें से छानी जा सकती है। आज राष्ट्रीय अस्तित्व के जिन गंभीर सवालों से हम घिरे हैं उनकी सार्थक अर्थछवियों से प्रसाद के नाटक भास्वर हैं, यह कहने की आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिए। लेकिन विडंबना यह है कि आयातित चिंतन के बौद्धिक-विमर्श में आज इतिहास और प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों के प्रति नकार का भाव है। जयशंकर प्रसाद को 'किन्हीं' विचारधारात्मक प्रतिबद्धताओं में जकड़कर हमें उनके नाट्यमूल्यों का अवमूल्यन नहीं करना चाहिए। राष्ट्रवाद की सांस्कृतिक आधारशिला किसी भी देश के होने अथवा न होने के प्रसंग में एक बड़ा सवाल है। राष्ट्रीय संदर्भों अथवा समस्याओं को अपनी सांस्कृतिक परंपराओं के साथ जोड़कर देखना किसी 'पार्टी' अथवा 'संगठन' का सांप्रदायिक एजेंडा नहीं बन जाता। राष्ट्र की एकता और अखंडता के लिए अंतर्विग्रह पर नियंत्रण की कोशिशें किसी संप्रदाय के खिलाफ विद्वेष अथवा मानवाधिकारों का उल्लंघन नहीं माना जाना चाहिए। चाणक्य, चंद्रगुप्त, अलका-सिंहरण की भाँति देश की संप्रभुता के लिए लड़ना स्वतंत्रता की भाँति 'हर किसी' का जन्मसिद्ध अधिकार है। नाट्यानुभवों की यही विरासत प्रसाद के नाटकों की थाती है, जो आज हमारे देश, हमारे समाज और हमारे चिंतक को समझनी चाहिए।

प्रसाद के पहले संपूर्ण नाटक 'विशाख' में राज्य, धर्म, जाति और व्यक्ति के पारस्परिक द्वंद्व और राज्य तथा धर्म द्वारा व्यक्तिगत स्वतंत्रता के हनन जैसी समस्याएँ उठाई गई हैं। भारतीय समाज में निम्न जातियों का जिस तरह सत्ता और धर्म शोषण करते हैं—उसके विरुद्ध 'विशाख' में प्रसाद का स्वर बहुत तीखा है। इतिहास के द्वारा प्रसाद ने अपने समय के लिए जो उपलब्ध किया है, उसके बीज यहाँ हैं और स्पष्ट करते हैं कि वे मूलतः यथार्थदृष्टि संपन्न विद्रोही और संवेदनशील नाटककार हैं। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक निरंतर राष्ट्र की धड़कनों के समानांतर अपनी गति और दिशा पकड़ते रहे, यह संयोग नहीं है, साभिप्राय है। 1921 के आसपास देश में सांप्रदायिक दंगों का उन्माद फैला हुआ था, इन्हें रोकने के लिए महात्मा गांधी ने 21 दिनों का उपवास किया था। दोनों जातियाँ एक-दूसरे पर दोष मढ़ रही थीं, कोई भी झुकने को तैयार नहीं था। ऐसे समय में प्रसाद ने पौराणिक नाटक 'जनमेजय का नागयज्ञ' लिखा। इसमें दो जातियों के संघर्ष के कारणों की पड़ताल की गई है और समाधान खोजने का प्रयत्न भी किया गया है। कहा गया है कि दो जातियों के वैमनस्य और संघर्ष के लिए किसी एक को दोषी नहीं ठहराया जा सकता, भले एक आर्य हो और दूसरी नाग। नाटक के अनुसार इस शत्रुता में आर्यों की भूमिका नागों से कम नहीं है। इसका निहितार्थ 'तितली' उपन्यास के निम्न कथन से और भी खुल जाता है—'हिंदू, मुसलमान, ईसाई सब भेद मनुष्यकृत हैं। धार्मिकता के आडंबर एवं उच्चकुलोद्भवता के अहंकार आदि के नीचे मनुष्य की पशु-प्रवृत्ति सजग रहती है।' प्रसाद जब इहिास-पुराण आदि में भी इसी पशु-प्रवृत्ति की तलाश करते हैं तो उनकी दृष्टि इतिहास या पुराण पर नहीं, आधुनिक जीवन में व्याप्त धर्मांधता, स्वार्थ, हिंसा आदि पशु प्रवृत्तियों पर टिकी हुई है। इसीलिए जब वे समाधान की तलाश करते हैं तब भी उनकी चेतना में वर्तमान संबंधों के समीकरण ही होते हैं। प्रश्न उठता है कि क्या तब के (1921) जाति, संप्रदाय और धर्म के जटिल प्रश्न आज के प्रश्न नहीं हैं? कहना होगा शायद पहले से कहीं अधिक।

प्रसाद के नाटक अपने समकालीन परिवेश से प्रेरित तो हैं ही, उनमें एक साथ भूत, वर्तमान और भविष्य के कालातीत सत्य को साधने की छटपटाहट भी है। 1929-30 का समय राष्ट्रीय जीवन में उथल-पुथल का समय था। क्रांतिकारियों के आत्म बलिदान से इतिहास के पृष्ठ लाल हो गये थे, गांधी जैसा कर्मयोगी भी संघर्षरत था, देश अंतर्विग्रह के कगार पर पहुँच चुका था। इन तमाम स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में 'स्कंदगुप्त' और 'चंद्रगुप्त' के सृजन पर विचार करें तो स्वयं इस प्रश्न का उत्तर मिल जाएगा कि प्रसाद अपने समकालीन परिवेश के प्रति कितने सजग थे। आततायी आक्रामकों से निष्काम कर्मयोगी की तरह युद्धरत एक समय का सर्वहारा स्कंदगुप्त अपने व्यक्तित्व में गांधी युग की अंतश्चेतना साधे हुए है। प्रसाद ने अंतर्दृष्टि से यह देख लिया था कि स्कंदगुप्त द्वारा स्वयं संघर्ष करके मुक्त किया हुआ राष्ट्र पुरगुप्त को सौंपने का इतिहास फिर दोहराया जाएगा। उनकी मृत्यु के दस

साल बाद क्या हमने इतिहास में वही घटित होते हुए नहीं देखा है, गांधी-युग का आत्मबल, आत्मोत्सर्ग, सहृदयता, संघर्षशीलता इतिहास में स्कंदगुप्त के अलावा कहाँ मिल सकती थी? और अगर मिलती भी तो विषम स्थितियों का ऐसा कंट्रास्ट कहाँ मिलता? प्रसाद के 'चंद्रगुप्त' के साथ विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' और राय बाबू के 'चंद्रगुप्त' का उद्देश्य गुप्तकाल के ब्यौरे देना नहीं है या अतीत में लौटने का मोह भी नहीं है। नाटककार यह जानता है कि राष्ट्र के अंतर्विग्रह का रूप भले बदलता रहता है, लेकिन उसकी प्रकृति कमोबेश हर युग में एक जैसी ही होती है जो राष्ट्र को पराजय की ओर ले जाती है। प्रसाद उन तमाम अग्नि-परीक्षाओं के संकेत देते हैं जिनसे गुजरकर कोई राष्ट्र आत्मनिर्भर, स्वायत्त, स्वतंत्र, अखंड इकाई के रूप में अपनी अस्मिता को प्राप्त करता है।

आज पुनः देश विघटन की स्थिति से गुजर रहा है। कट्टर सांप्रदायिक शक्तियाँ देश को जर्जर कर रही हैं। क्षेत्रीयता और जातिवाद उग्रवाद का रूप धरकर देश की अखंडता पर हमला बोल रहे हैं। भ्रष्टाचार और आतंक एक संस्थागत सत्ता के रूप में उभरा है। आम आदमी का जीना दूभर हो चला है। इस विषम परिस्थिति में आज भी देश की आशा उस सत्तर फीसदी गरीब जनता पर टिकी है जिसकी लोकतंत्र के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भागीदारी रही है। देश की अखंडता एवं राष्ट्र-संगठन के लिए आज भी चाणक्य जैसी चातुरी, चंद्रगुप्त जैसी तेजस्विता और पर्णदत्त जैसे आत्मबलिदानी की आवश्यकता है। सिंहरण की यह उद्घोषणा फिर ज़रूरी हो उठी है कि—'मेरा देश मालव ही नहीं, गांधार भी है, बल्कि समस्त आर्यावर्त है।' अब भी क्या इन ऐतिहासिक कृतियों की वर्तमान प्रासंगिकता के लिए प्रमाण देने की आवश्यकता रह जाती है? यह बात सही है कि प्रसाद ने अपने नाटकों में समसामयिक ज्वलंत प्रश्नों, समस्याओं को इतिहास-मिथ के आवरण में प्रक्षिप्त कर दिया है। इसलिए प्रसाद की कृतियों में समय की पहचान हमेशा ही जटिल रही है, वह ऊपर-ऊपर उतराती नहीं फिरती जिसे कोई भी हाथ लगाए और छान ले। ऐसी सामयिक संदर्भ-सापेक्ष संवेदना का स्वरूप तलस्पर्शी और अंतरंग है जो ध्वनित होता है; संकेतित होता है; गूंजता चलता है।

प्रसाद युग में और आज भी स्त्री की स्वाधीनता, शोषण-मुक्ति, नारी-अस्मिता, नारी की पहचान एवं उसकी भूमिका से जुड़े सवाल अहम सवाल रहे हैं और 'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद ने जिस समस्या को छुआ है, जिन प्रश्नों के उत्तर तलाशे हैं, वह उस युग में एक जोखिम भरा कदम था। 'हिंदू कोडबिल' तो बड़ी कठिनाई से छठे दशक में हिंदू स्त्री को तलाक और पुनर्विवाह का संवैधानिक अधिकार देता है, परंतु प्रसाद जैसा स्रष्टा उसे तीसरे दशक में ही यह अधिकार दे देता है और वह भी शताब्दियों पूर्व के धर्मशास्त्रीय प्रमाण देकर। 'ध्रुवस्वामिनी' की भूमिका में प्रसाद ने रूढ़िवादियों पर उन्हीं के शस्त्रों से आक्रमण किया और उन्हीं के स्रोतों से उसका समाधान किया—पंडितों और कुलीनों ने जिन भ्रांत नैतिक मूल्यों का प्रचार करके साधारण जनता के मन में एक हौवा बना रखा था। प्रसाद नैतिकता के उस तिलिस्म को तोड़कर सत्य का साक्षात्कार कराते हैं। वह सत्य जो मानवीय है, अनुकरणीय है।

प्रसाद का लगभग पूरा साहित्य नारी की खोयी हुई अस्मिता और गरिमा को पुनः प्रतिष्ठित करने का गंभीर प्रयत्न है। उन्होंने स्त्री-पुरुष की समानता के लिए अपनी विशिष्ट मार्मिक शैली में स्त्री-आकांक्षा को पुरुष की इच्छा से बड़ा बनाकर इतिहास के अंतराल को पाट दिया है। देवसेना, मालविका, अलका, सरमा, कोपा, चंपा जैसी नारियाँ अबला नहीं हैं, वे कोमल हैं, भावमयी हैं, एकनिष्ठ प्रेमिकाएँ हैं, परंतु इतनी दृढ़ हैं कि देह के जिन कारणों से स्त्रियाँ मन से हारती रही हैं, उन्हें ये अपनी पराजय का माध्यम नहीं बनने देतीं। स्त्री-शोषण के कारणों को पहचानकर प्रसाद ने प्रेम को सेक्स से हटाकर नारी-महत्त्व के भीतर स्थापित किया। इतिहास की कल्याणी यदि पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर शत्रु से लोहा लेती है तो विजया कहानी की विधवा 'सुंदरी' पुरुष को आत्महीन कायरता से उबारती है। ये नारियाँ साहस की उस भूमिका में हैं जिस पर पुरुष अपना दावा जताता रहा है। प्रसाद की खूबी यह है कि वे न तो नारी-स्वातंत्र्य पर व्याख्यान देते हैं, न कोई ऐसा घटना-व्यापार रखते हैं जिससे लगता हो कि स्त्री अपने को पदार्थ या काम-यंत्र बनाए जाने के विरुद्ध कोई मैदानी लड़ाई लड़ रही हो। वे मात्र स्त्री की अंतर्रचना बदल देते हैं, संबंध-बोध और संबंध-तेवर बदल देते हैं। इस तरह वे नारी की एकल भूमिका का विस्तार करते हुए उसे सामाजिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय चेतना से संबद्ध कर देते हैं। नारी-स्वतंत्रता तब तक अपनी सार्थकता नहीं पाती जब तक कि उसकी चेतना अपने व्यक्तिगत खोल से निकलकर समाज और राष्ट्र से नहीं जुड़ती। देवसेना, ध्रुवस्वामिनी, अलका और सरमा के रूप में वह राष्ट्रीय संकटों के प्रति पूरी जागरूक है। पुरुष की समकक्षता दिलाने के लिए उसे किसी 'आरक्षण' और 'सशक्तिकरण अभियान' की आवश्यकता महसूस नहीं होती। 'स्त्री का सम्मान राष्ट्र का सम्मान' को नारों या उद्घोषों से संभव नहीं बनाया जा सकता। यह आंतरिक ऊर्जा और पहचान-बोध तो उसे अपने अंदर से ही हासिल करना होगा। फैशन टेक्नोलॉजी ने आज स्त्री को नंगा कर घोर रूप में असुरक्षित कर दिया है। पूंजीवाद से पैदा हुई अधकचरी सामंती मनोवृत्ति के कारण आज वह 'श्रद्धा' नहीं भोग की चीज़ है, इस स्थिति में प्रसाद के नारी-मूल्य स्त्री को यौन शुचिता के साथ वरण और प्रेम की पूरी आज़ादी ही नहीं देते, यौन-उत्पीड़न से सतीत्व-रक्षा की पूरी गारंटी भी देते हैं क्योंकि पर्णदत्त के अनुसार स्कंदगुप्त को 'सतीत्व-रक्षा' के लिए भी अपने क्षत्रियोचित अधिकार का उपयोग करना चाहिए। 'चंद्रगुप्त' नाटक में भी कार्नेलिया-फिलिप्स प्रकरण में यौन-शोषण की पश्चिमी भोग दृष्टि के खिलाफ स्त्री-सम्मान के उसी भारतीय मूल्य की प्रतिष्ठा हुई है। चंद्रगुप्त द्वारा फिलिप्स के हाथों कार्नेलिया को बलात्कार की शिकार बनने से रोकने की घटना को इसी दृष्टि से देखना चाहिए।

प्रसाद ने अपने अधिकांश नाटकों का उपजीव्य गुप्तकाल को बनाया। गुप्तकाल प्रमाणिक इतिहास का भाग था और स्वर्णयुग के रूप में प्रतिष्ठित भी था। अंग्रेज और यूनानी इतिहासकार उस युग के बारे में गलत बयानी कर रहे थे—उनका उत्तर देना भी ज़रूरी था क्योंकि इसी युग में सिकंदर भारत से परास्त होकर गया था और उसका विश्व-विजय-दर्प चूर-चूर हो गया था। ऐतिहासिक अन्वेषण के स्तर पर उक्त इतिहासकारों से टक्कर लेने के लिए प्रसाद ने गुप्तकाल चुना था, इसलिए कि उस युग में भारतीय राजनयता, प्रतिभा, लोकधर्म,

मानवीय-मूल्य और सुख-शांति की पराकाष्ठा थी, और यह निर्विवाद रूप से ऐतिहासिक काल था। इसलिए भ्रम-निवारण के लिए अनेक स्रोत भी उपलब्ध थे। चाहे राजनीति हो या अर्थनीति, धर्मचिंतन हो या लोकचिंतन, भक्ति हो या वीरता, नैतिकता हो या सहृदयता, मेधा हो या प्रतिभा, साहित्य हो या कला—सभी क्षेत्रों में प्रसाद ने भारत की अग्रगण्यता और गरिमा स्थापित की। यदि एक ओर चाणक्य ज्ञान, मेधा और कूटनीति का प्रतिमान है तो दूसरी ओर निस्पृह ब्राह्मणत्व का धारक। इस प्रकार वह पाश्चात्य कूटनीतिज्ञों से भिन्न अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं से सुसज्जित है। 'चंद्रगुप्त' में यूनानी कन्या पर यूनानी सैनिकों द्वारा बलात्कार की कोशिशों और चंद्रगुप्त द्वारा उसकी रक्षा के माध्यम से प्रसाद ने भारतीय और विदेशी 'सभ्यता' का अंतर दिखाया है। दांड्यायन का आश्रम-प्रसंग यदि 'चंद्रगुप्त' से निकाल दिया जाए तो उसकी नाटकीयता में कोई कमी नहीं आएगी, उल्टे कुछ नाट्यकर्मियों को तो वह खटकता है, परंतु प्रसाद ने यह प्रसंग भारतीय संस्कृति के विराट आयोजन की प्रस्तुति के लिए रचा है ये प्रसंग इक्कीसवीं सदी में सांस्कृतिक कवच के रूप में धारण किये जाने चाहिए।

प्रसाद ने प्रेम-संबंध को जातियों, धर्मों, देशों के कटघरे से निकालकर उसे एक आदर्श धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। चंद्रगुप्त और कार्नेलिया का विवाह अंतर्राष्ट्रीय है, अजातशत्रु और वाजिरा का विवाह अंतर्प्रांतीय, जनमेजय और मणिमाला, सरमा और वासुकि, चंद्रलेखा और विशाख का विवाह अंतर्जातीय है। भारत में सिविल मैरिज एक्ट तो 1921 में बना, लेकिन प्रसाद की चंद्रलेखा और विशाख तो उससे पूर्व ही प्रेम-विवाह के बंधन में बँध गये थे। इस प्रकार प्रसाद ने युगीन आकांक्षाओं के अनुरूप स्त्री-पुरुष संबंधों को रूढ़ियों की कारा से बाहर निकालकर उसे और अधिक व्यापकता प्रदान की। आज, जब हम आधुनिकता से उत्तर आधुनिकता का पड़ाव पार करने का दंभ कर रहे हैं तब मिथकीय प्रसाद के बहुआयामी प्रेम-प्रसंगों के बरक्स कितने बौने हो गये हैं; इसे जानना है तो आज के समाचार पत्र बांच जाइए, मीडिया का दृश्य-श्रवण कर जाइए। आपको इस वस्तु-यथार्थ के जघन्य दृष्टांत देखने-सुनने को मिल जाएंगे। तब क्या ऐसा नहीं लगेगा कि प्रसाद का समय, संदर्भ और साहित्य कहीं अधिक अनुकरणीय है—बशर्ते आज के। प्रसाद पर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से यह आरोप लगते रहे हैं कि वे पुनरुत्थानवादी हैं, उन्होंने अतीत को गौरवान्वित करने की चेष्टा की है। देखा जाए तो प्रसाद अपने नाटकों के माध्यम से निष्प्राण, मृत रुढ़ियों पर निरंतर आक्रमण करते रहे, इतिहास की विकृतियों को उघाड़कर उन्होंने वर्तमान समस्याओं, उनसे जुड़े प्रश्नों के व्यावहारिक उत्तर तलाश किये। दरअसल उनके भीतर तलाश और अन्वेषण की संवेगात्मक प्रक्रिया जीवन-पर्यंत चलती रही। उनका इतिहास-प्रेम 'नास्टेल्जिया' नहीं है, वह संस्कृति-प्रेम की अनिवार्य जरूरत को प्रमाणित करता है जो कि संस्कृति व अतीत को महामंडित करने के दुराग्रह से नहीं उपजता अपितु वहाँ प्रसाद का क्रियाशील, सजग विवेक चौकस देखते हुए चलता है कि क्या उचित है और क्या अनुचित? प्रसाद के लिए वर्तमान विषय-वस्तु को लेकर लिखना कठिन नहीं था, फिर भी अगर उन्होंने वर्तमान को प्रतिबिंबित करने के लिए अतीत का सहारा लिया तो उसके पीछे उनका यही सदाशय छिपा था कि जातीय स्मृतियाँ मानव की मूल्यवान धरोहर हैं जिससे गुजरते हुए मनुष्य अनुभव की एक लम्बी यात्रा करता है। उसे पता लगता है कि उसके निर्माण एवं विकास की प्रक्रिया क्या है और उसके उत्थान और पतन के लिए इतिहास बीहड़ में घुसना एक अनिवार्यता है। दूसरा पहलू जिसे वे बखूबी जानते थे और जिस का उन्होंने उपयोग भी किया कि इतिहास मिथ से जुड़ी घटनाएँ प्रख्यात होती हैं, जिनमें लोक हृदय में पैठने (रमने) की अद्‌भुत क्षमता होती है। उनकी विश्वसनीयता व असर भी काल्पनिक कथाओं से कहीं बढ़कर होता है। प्रसाद ने इतिहास का उत्खनन-भर नहीं किया है बल्कि अपनी रचना-प्रतिभा, कौशल और सामर्थ्य से इतिहास को न केवल वर्तमानबोध में बदल दिया है। अपितु आगत काल के महत्त्वपूर्ण 'ब्लूप्रिंट' को भी उन्होंने उसी से निर्मित किया।

दरअसल, प्रसाद के इतिहास का वर्तमान से मित्रवत् संबंध है—ऐसा संबंध जो आँख मूँदकर अपने 'अतीत-मित्र' पर विश्वास नहीं करता, वह सराहना और आलोचना दोनों को साथ लेकर चलता है। उन्होंने इतिहास की मूल्य-संपदा, सांस्कृतिक चेतना और प्रश्नों को नवाचार से तोला। अनुचित जान पड़ने पर उससे प्रतिकार भी किया। नवजागरण का इतिहास-दर्शन पुनरुत्थान की तरह अतीत का अनुगमन नहीं करता, बल्कि उसे अतिक्रांत करता है। एक सर्जक रूप में प्रसाद ने अनेक बार इतिहास के माध्यम से ही इतिहास का अतिक्रमण किया है। उनके लिए यह अतिक्रमण स्थूल घटनाओं, संबंधों एवं धारणाओं तक ही सीमित नहीं है, बल्कि कई जगह आवेगपूर्ण मानवीयता, उदात्त सांस्कृतिक चैतन्य और महाबोध (विज़न) तक फैला हुआ जहाँ इतिहास के तथ्य बौने सिद्ध हो जाते हैं। 'चंद्रगुप्त' नाटक में कार्नेलिया-प्रसंग इसका विलक्षण उदाहरण है। कार्नेलिया के माध्यम से व्यक्त राष्ट्रीय और विश्व-दृष्टि के पीछे एक रोमानी संस्पर्श है इससे इनकार नहीं किया जा सकता। बावजूद इसके कि इस प्रसंग को प्रसाद ने जिस रूप में अभिव्यंजित किया है—वह मात्र इतिहास की स्थूल घटना न होकर भारतीय संस्कृति की व्यंजना बनकर उभरती है। यह इतिहास में एक सर्जक का व्यंजक हस्तक्षेप है जो अपनी सृजनशीलता से इतिहास की युगीन आकांक्षाओं के अनुरूप नित नये संदर्भों में ढालता चलता है। कार्नेलिया द्वारा गाया गया गीत 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' निश्चय ही मार्मिक गीत है। यह एक ऐसे देश की सेनापति की बेटी द्वारा गाया गया जो भारत से परास्त हो चुका है। भारत विजेता तो है, पर विजित राष्ट्र के प्रति उसमें सहृदयता, उदारता और मित्रता का भाव है। चंद्रगुप्त द्वारा यूनानी सैनिकों की हवस से बचाने की घटना तथा अन्य घटनाओं से कार्नेलिया यह सोचने को मजबूर हो जाती है कि और देश तो मनुष्यों की जन्मभूमि हैं, भारत मानवता की जन्मभूमि है और जो मानवता की जन्मभूमि है वह उस हर मानव की जन्मभूमि है जो उसे उसके मूल्यों को प्यार करता है। भारत मानवता की जन्मभूमि है। इस सघन, सार्थक और लंबी बुनावट के भीतर कार्नेलिया का गीत देशप्रेम की सीमा को लांघकर विश्व फलक पर पसर जाता है। ऐतिहासिक घटनाओं, चरित्रों की युगानुरूप व्याख्या करने और उसे नई संरचना में बुनने और तानने का अप्रतिम कौशल नाटककार प्रसाद में पूरा है। स्कंदगुप्त के मंचन-अनुभव के संदर्भ में शांता गांधी लिखती हैं कि 'आज भी हमें ऐसे स्कंदगुप्त की तलाश

है जो प्रकट होकर महान स्वार्थ-त्याग के द्वारा इस देश की एकता की रक्षा कर सके और उसे सुदृढ़ बना सके।' दरअसल प्रसाद ने इतिहास के जीवित हिस्से को वर्तमान संदर्भों में रचने का कार्य तो किया ही है इसके साथ-साथ भविष्य की संततियों को भी चेताया है। जहाँ तक उनके नाटकों की प्रासंगिकता का प्रश्न है वह सरल मार्ग का चुनाव क्यों करे? प्रासंगिकता वास्तव में रचना-संदर्भों की युगीन संगति, उसकी उपयोगिता-अनुपयोगिता, गतिशीलता आदि तत्त्वों से तय होती है, न कि इस बात से कि अमुक नाटककार ने कथा-तत्त्व कहाँ से ग्रहण किया है, जिस लेखक में मानव-जीवन की गहनता और विविधता को, मानव-चरित्रों की बारीकियों और प्रतिक्रियाओं को, घटना-स्थिति और समाज की प्रवहमान धारा में निरंतर अवगाहन करने वाला देश और काल की सीमा से परे एक शाश्वत सत्य को उघाड़ता चलता है जो कमोवेश प्रत्येक युग के मानव की यात्रा को, उसके अनुभव को अपने में आत्मससात किये हुए रहता है। और सर्जना के नैरंतर्य में वह कभी भी बासी नहीं पड़ता। इसे एक उदाहरण से और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। प्रसाद ने 'कामना' की रचना 1923-24 में की। इस रूपक में उन्होंने पश्चिम से आयातित भोगप्रधान सभ्यता की विकृतियों को उजागर किया है। आज विश्व 21वीं सदी की ओर कदम बढ़ा रहा है; चारों तरफ उपभोक्तावादी सभ्यता अपने पांव पसार रही है, विज्ञापनवाद और मीडिया के माध्यम से एक वाणिज्यिक किस्म का साम्राज्यवाद संक्रामक बीमारी की तरह मानवीय-संवेदना को निगलता चला जा रहा है। ऐसी विषम स्थितियों, संदर्भों और उनसे जुड़े समसामयिक प्रश्नों के उत्तर 'कामना' नाटक में सहज ही मिल जाते हैं। तात्पर्य यह कि मनुष्य की अंतर्वृत्तियाँ इतिहास की निरंतरता में तमाम विविधताओं के बावजूद समान होती हैं इसीलिए इनसे जुड़े रचना-संदर्भ कभी भी अप्रासंगिक नहीं होते। आवश्यकता केवल उस संदर्भ को पहचानने, परखने और उसे युगीन संगति में रचने की क्षमता, कौशल एवं साहस जुटाने की है और कहने की आवश्यकता नहीं कि यह पहचान, परख, कौशल और साहस नाटककार प्रसाद में है।

प्रसाद उस समय में नाटक लिख रहे थे, जब देश अंग्रेजों के अधीन था। साम्राज्यादी अंग्रेज़ शासक देश का भरपूर आर्थिक-शोषण कर रहे थे। देश स्वाधीनता के लिए संघर्षरत था। गांधी जी के नेतृत्व में एक तरफ यदि अहिंसा पर आधारित आंदोलन चल रहे थे तो दूसरी तरफ क्रांतिकारी शहीद हो रहे थे। साथ-ही-साथ देश में हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य से उत्पन्न सांप्रदायिक दंगे भी हो रहे थे। राजे-रजवाड़ों का परस्पर मतभेद तो आम बात थी। ऐसी विषम स्थिति में राष्ट्र की स्वतंत्रता, अस्मिता की रक्षा का प्रश्न सर्वोपरि था, राष्ट्रीय-अस्मिता की रक्षा के मार्ग में सांप्रदायिक संघर्ष, जातिगत भेदभाव सबसे बड़ी बाधा उपस्थित कर रहे थे। प्रसाद के प्रायः सभी नाटकों में इन स्थितियों की अनुगूंज किसी-न-किसी रूप में अवश्य सुनी जा सकती है। उनके प्रत्येक नाटक के मूल में राष्ट्रीय अस्मिता की रक्षा एवं निर्वाह के लिए राष्ट्र के संगठन, एकता, अखंडता एवं नारी-स्वातंत्र्य के साथ आत्मबलिदान की भावना है। मेरा यह मानना है कि विश्व के किसी भी कोने में अगर राष्ट्र की कोई अखंड इकाई जब तक शेष है तब तक प्रसाद के नाटकों से उभरता 'वैल्यू-सिस्टम' अपनी प्रासंगिकता में नैरंतर्य के साथ जीवित रहेगा।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्र के नवनिर्माण हेतु लोकतंत्र के गठन की समस्या सामने आती है। प्रसाद के नाटक 'चंद्रगुप्त' में चंद्रगुप्त के राजा बनने के साथ-साथ एक लोकतांत्रिक आदर्श राज्य-व्यवस्था के गठन को चाणक्य ने प्रथम वरीयता दी है। ऐसा करके प्रसाद ने भीषण अराजकतापूर्ण तानाशाह राज्य-व्यवस्था को दरकिनार किया है और लोक-कल्याण को, प्रजा-हित को सर्वोपरि माना है। स्वतंत्रता-संग्राम में नारियों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। स्वतंत्रता आंदोलन के समय से ही नारी अपनी सार्थक भूमिका एवं पहचान की तलाश में लगी है। इसी पहचान और नारी-अस्मिता से नारी-स्वातंत्र्य का प्रश्न जुड़ा है जो आज पहले से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठा है। प्रसाद के नाटकों में चाहे वह 'चंद्रगुप्त' हो या 'स्कंदगुप्त' 'जनमेजय का नागयज्ञ' हो या फिर 'ध्रुवस्वामिनी' सर्वत्र नारी अपनी भूमिका एवं पहचान को पाने हेतु संघर्षरत दिखाई गई है। 'ध्रुवस्वामिनी' में तो प्रसाद ने नारी-जीवन से जुड़ी समस्या-विवाह, तलाक और पुनर्लग्न को बिल्कुल आधुनिक तरीके से उठाया है और शास्त्रों के प्रमाण देकर ही इस स्थापना को मजबूत किया है कि यदि किसी स्त्री का पति अयोग्य और क्लीव हो तो उस स्त्री को यह अधिकार है कि वह उस पति से (मोक्ष) तलाक लेकर दूसरे योग्य पुरुष से पुनर्विवाह करे।

आज अपने देश में परिवार, विवाह की अवधारणा पहले से काफी लचीली हुई है, लेकिन अपने पूरे अंतर्विरोधों के साथ। फिर भी आज अंतर्जातीय, अंतर्प्रांतीय एवं अंतर्राष्ट्रीय विवाह की वकालत इस रूप में की जा रही है कि यह सामाजिक बंधन को, संरचना को स्वस्थ, उदार एवं मानवीय बनाने में सहायक होगा। प्रसाद ने बहुत पहले ही इस स्थिति को भाँप लिया था और अपने नाटकों में ऐसे विवाह को अनुकरणीय सिद्ध किया। प्रसाद के नाटकों में अंतर्जातीय, अंतर्प्रांतीय और अंतर्राष्ट्रीय विवाह के उदाहरण सहजतापूर्वक ढूँढ़े जा सकते हैं जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। प्रसंगतः दलित-राजनीति का वर्तमान संदर्भ और उसके राष्ट्रीय संकट का समाधान भी प्रसाद के 'चंद्रगुप्त' में मौजूद है। पर्वतेश्वर और सिंहरण जैसे सशक्त विकल्प उपलब्ध होने पर भी आज की दूषित राजनीतिक शब्दावली में 'मनुवादी ब्राह्मण' चाणक्य नीच जाति का कहे जाने वाले चंद्रगुप्त में क्षत्रियोचित गुणों को देखकर उसे ही राजन्य संस्कृति के प्रतिनिधि के रूप में जननेतृत्व के लिए मनोनीत करता है। प्रसाद की यह चिंतन दृष्टि अपने समय में बड़ी दायित्वपूर्ण और दूरगामी महत्त्व की थी जिसे आज आसानी से समझा जा सकता है।

उपरोक्त तथ्यों के आलोक में यह कहा जा सकता है कि प्रसाद ने अपने नाटकों में मात्र समकालीन स्थितियों का, इतिहास का लेखा-जोखा प्रस्तुत नहीं किया है, बल्कि वर्तमान के लिए दिशा-दृष्टि निर्धारित करते हुए भविष्य हेतु संकेत भी दे दिया है। उनके नाटक अतीत से प्रारंभ होते हैं, वर्तमान से मुठभेड़ करते हैं और भविष्य के लिए एक स्वप्न गढ़ते हैं। थोड़ी देर के लिए यह 'स्वप्न' एक 'यूतोटिया' एक 'फंतासी'—सा प्रतीत हो सकता है, किंतु यह स्वप्नलोक प्रसाद का आदर्शलोक है जिसे वे व्यवहार के धरातल पर देखना चाहते हैं। यह स्वप्नलोक वर्तमान की यथार्थ भूमि पर खड़ा है और अतीत से प्रेरणा भी ग्रहण कर रहा है। यही वजह है कि प्रसाद के नाटकों की भावभूमि इतिहासाधिकार होकर भी तथ्यपरक इतिहास नहीं है, बल्कि

सत्यपरक इतिहास है। उन्होंने अपने नाटकों में इतिहास-मिथ से कथानक अवश्य लिया है, किंतु उस कथानक के ब्याज से जिन स्थितियों, संघटनाओं, समस्याओं पर 'फोकस' किया गया है, वह केवल अतीत की संघटना, स्थिति या समस्या नहीं है, बल्कि वह प्रत्येक युग की समस्या है। इसीलिए प्रसाद के नाटक देशकाल की सीमा को अतिक्रांत करते हुए अतीत से भविष्य तक की यात्रा करते हैं।

प्रसाद के नाटकों की मंचीयता और फिर पठनीयता को लेकर जो लोग संदेह प्रकट करते हैं वे इस बात को भूल जाते हैं कि प्रसाद की कृतियों की 'रेंज' कितनी बड़ी है, उसका फलक कितना व्यापक है कि वह विश्वबोध और मानवीय चेतना के साथ पूरे राष्ट्र को समेटता है, राष्ट्रीय-चेतना की टोह लेता है। इतने व्यापक फलक पर जिन नाटकों की सृष्टि हुई हो उन्हें मंचित करने में, उसे समझने में कुछ मशक्कत तो करनी ही पड़ेगी है। वैसे भी सांस्कृतिक चेतना और परंपरा कोई रुंगे में मिलने वाली चीज़ नहीं है, उसको अपने परिश्रम, लगन से अर्जित किया जाता है। जो परंपरा इतिहास को फटककर उसे सार्थक, सजीव और उसके उपयोगी हिस्से को संभालती चलती है, वह परंपरा कभी अप्रासंगिक हो ही नहीं सकती। यह बात अलग है कि ऐसी सार्थक, संदर्भवान, उपयोगी, यथार्थपरक, सत्यपरक परंपरा एवं संस्कृति को जानने-समझने और उससे लाभ उठाने के लिए अपनी रुचि को परिष्कृत तो करना ही होता है, अपनी मानसिकता को उदात्त भावभूमि पर तो ले जाना ही होता है और यह सब किये बिना यह कह देना तो सहज है कि प्रसाद के नाटक विश्वविद्यालय की शिक्षा के उपयुक्त हैं और वे केवल पुस्तकालयों में ही शोभा देते हैं। मेरी तो यह स्पष्ट मान्यता है कि यदि कोई आधुनिक विवेक की धार पर चलते हुए आज भी समस्याओं, स्थितियों, उनसे जुड़े प्रश्नों के उत्तर प्रसाद के नाटकों में तलाशने का कष्ट करे तो उसे उसके प्रत्येक प्रश्न का तर्कसंगत उत्तर इन कृतियों में प्राप्त हो सकता है। उसके लिए देशकाल की सीमा, इतिहास-मिथ का आवरण कहीं भी बाधक नहीं बनेगा, बल्कि साधक ही सिद्ध होगा। अतः राष्ट्रीय तथा मानवीय जीवन को आंदोलित एवं निर्देशित करने वाले प्रसाद के नाट्य-विचार उनके नाटकों की नाट्यानुभूति के स्थायी कीर्तिस्तंभ हैं और बने रहेंगे। अंत में एक बात और; आज चिंतन छोटे-छोटे विमर्शों में कैद होता जा रहा है। उसमें वह संपूर्णता नहीं जो होनी चाहिए। प्रसाद के चिंतन में समग्रता है, उनके नाटकों की मूल्य व्यवस्था में स्त्री की सम्मान के साथ दायित्वपूर्ण अस्मिता है, दलितों के लिए कर्म सापेक्ष व्यक्तित्व की गारंटी है और अल्पसंख्यकों के साथ राष्ट्रीयता की अखंडता में सामंजस्यपूर्ण अद्वैत दृष्टि के साथ समानता का विचार है और इन सबसे बढ़कर मानवीय करुणा, अहिंसा, विश्वमैत्री के साथ गहरा विश्वबोध है। नाट्यानुभवों के इन स्थायी विचारों का आज विस्तार एवं विकास करने की ज़रूरत है, और ज़रूरत है आज के राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में उनको पढ़ने की, पढ़ाने की, देखने की, दिखाने की।

पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

●

स्वातंत्र्योत्तर नाट्य-कर्म : इतिहास-परंपरा का अपसंस्कृतिकरण

रमेश गौतम

रंगकर्म सामूहिक पुरुषार्थ का प्रदर्शन है और वटवृक्ष का रूप लेने से पूर्व इस सामुदायिक कर्म की जड़ है—नाट्यालेख। प्रदर्शन रंगकर्म का दृश्यात्मक संसार है तो आलेख उसकी आंतरिक चेतना क्योंकि प्रदर्शन के बाहरी तत्त्व प्रेक्षक को ज्यादा प्रभावित नहीं कर सकते बल्कि प्रदर्शन तत्त्वों के योग से लेखकीय अभीष्ट भाव और विचार ही संप्रेषित होकर प्रेक्षकीय संवेदन जगत में यथोचित प्रभाव पैदा कर सकता है।

संदेह नहीं कि डा. सुरेश अवस्थी और श्री नेमिचंद्र जैन जैसे विद्वान नाट्यालोचकों ने बीसवीं शताब्दी के संक्रमणशील नाट्यांदोलनों को शास्त्रीय समीक्षा-प्रवृत्ति से छुड़ाकर नये संदर्भों में विवेचित-विश्लेषित कर नाट्यालोचन का बहुत कुछ नियमन किया और पाँचवें दशक के बाद नाटकों को उन्हीं की दृष्टि से देखा, परखा और सराहा गया। डॉ. सुरेश अवस्थी ने नये मुहावरे के रंग तत्त्वों में जिन विशिष्ट अंगों की गिनती की है उनमें 'नाट्यालेख का सृजनात्मक निरूपण' सबसे पहले नंबर पर गणित होकर पाठक और प्रेक्षकीय चिंतन-संवेदन को इतिहास, परंपरा, वर्तमान की जनात्मक समझ, सामाजिक-आर्थिक परिदृश्य का ज्ञान, राष्ट्रीय चिंतन, संस्कृति और मूल्यात्मक संसार में अपनी इयत्ता की खोज के लिए प्रेरित करने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण हथियार है और यह भी सत्य है कि इस प्रेरक संप्रेषण कर्म में निर्देशक की सृजनात्मक भूमिका, कुशल अभिनय-कर्म और रंगमंच के बाहरी तत्त्व दर्शक की अपनी-अपनी छाप छोड़ते हैं, लेकिन यह भी निर्विवाद है कि राष्ट्रीय संस्कृति, सामाजिक चेतना और मानव-मूल्यों की संवाहक नाट्यालेख ही होता है। इस हिसाब से सर्जक नाटककार ही परंपरागत मूल्यों, संस्कृति, अस्मिता और जन-आकांक्षाओं को मुखर अभिव्यक्ति देता है।

अपनी परंपरा और पहचान की अंतर्यात्रा में स्वतंत्रता के बाद के हिन्दी नाटककारों ने सृजन-व्यापार के धरातल पर नयी प्रयोगशील शैली में नाट्य-रचना करते हुए जिस नयी Conviction के साथ परंपरा अथवा इतिहास को 'फ्रेम', 'माध्यम', 'खोल' अथवा 'आश्रय' मानने के चक्कर में वे यह भूल गये कि विश्व की सभी महान संस्कृतियाँ अतीत-परंपरा के माध्यम से ही अपने आंतरिक दर्शन को व्यक्त करने में समर्थ होती हैं क्योंकि अतीत-परंपरा या कहें कि मिथकितिहास एक ऐसा रहस्यमय शक्ति स्रोत है जो किसी भी जाति की सांस्कृतिक अस्मिता की पहचान और अस्मिता की रक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण कारगर अस्त्र है।

यह निर्विवाद है कि हम अपने वर्तमान को अतीत-परंपराओं के माध्यम से अच्छी प्रकार से समझ सकते हैं। किसी भी सजग जाति में इतिहास की शक्तियाँ हमेशा गतिशील रहती हैं और इतिहास का यह नैरंतर्य जीवन-सत्य बनकर जातीय स्मृति अथवा जातीय अस्मिता का प्रतिमान निर्धारित करता है। कहा जा सकता है कि इतिहास परंपरा के रूप में जीता-जागता वर्तमान है, बीते हुए कल को आज के बिंदु से जोड़ने वाला 'आने वाला' कल अर्थात रचनात्मक बोध के स्तर पर संभावनापूर्ण भविष्य कल्पना अथवा भविष्य-स्वप्न। क्योंकि यदि एक ओर मनुष्य का विगत उसके जीवन-संघर्षों का पुलिंदा है तो दूसरी ओर उसके वर्तमान को प्रभावित कर भविष्य-निर्माण का सबसे बड़ा प्रेरक तत्त्व भी। इतिहास मनुष्य को सिखाता है कि किस प्रकार विगत में प्रतिकूल स्थितियों में संघर्षरत हो उसने मानव-गरिमा की उच्चतम स्थितियों को उपलब्ध किया है, किस प्रकार मानव-नियति की विपरीत धाराओं पर उसने विजय प्राप्त की है। इसीलिए इतिहास-चिंतन को मनुष्य की प्रेरणाभूमि का सबल आधार स्वीकार किया जाता है।

यहाँ यह सवाल ज्यादा महत्त्वपूर्ण है कि इतिहास को किस रूप में जाना जाए—राजाओं के जीवन-चरित्रों, युद्ध, जय-पराजय, परिवर्तन के लेखे के रूप में अथवा युग के सांस्कृतिक प्रतिरूप के रूप में जिसमें लोकजीवन का प्रवाह सामूहिक आस्था-विश्वासों और जातीय चेतना के स्तर पर सुरक्षित रहता है। वास्तव में इतिहास परंपरा की दुनिया में लोकमन से बँधा वही अतीत है जिसमें मानवीय स्वभाव का अंतर्सार सुरक्षित रहता है। अतः इतिहास काल का मिथक है जिसमें इतिहास की वास्तविक तथ्यात्मक स्थितियों, प्रामाणिक घटनाक्रमों से अधिक गंभीर सत्य छिपा रहता है, जिसमें इतिहास की घटनाओं से अधिक यथार्थपरक जीवन-स्थितियाँ तथा मानवीय संवेदनाएँ मिलती हैं। अतः मिथकीय समन्विति के साथ ही इतिहास की व्यापक स्वीकृति को जाना और स्वीकारा जा सकता है। इस मिथकीय समन्विति से इतिहास की व्यक्ति केंद्रित तथा संकुचित दृष्टि धुल जाती है और इतिहास मिथ अथवा मिथकितिहास द्वारा जातीय-जीवन की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति व्यापक पैमाने पर संभव होती है। देखा जाए तो इतिहास-परंपरा में मिथकीय अनुभूति का स्पंदन किसी भी जाति का अंतःकरण है। ''आदमी के दर्द का समूचा अतीत जो इतिहास की परंपरित दुनिया में अभिव्यक्ति नहीं पा सका, मिथकितिहास में अनुभूत किया जा सकता है। मिथक में इतिहास बाह्य लेखा-जोखा के रूप में नहीं बल्कि ऐसी प्रामाणिक संवेदनात्मक अनुभूति के रूप में मिलता है, जो युगीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक अथवा किसी भी तरह के संघर्षात्मक प्रतीकों से जुड़ी रहती है। मिथक में अपने युग का समग्र द्वंद्व उभरकर इतिहास का एक सांस्कृतिक चित्र उपस्थित करता है।''

स्पष्टतः तथ्यात्मक इतिहास की तुलना में मिथकितिहास (अर्थात इतिहास-परंपरा) सांस्कृतिक धरातल पर युग-मन का प्रामाणिक दस्तावेज है, जो सृजनात्मक आधार पर इतिहास की अपेक्षा मानवीय जीवन-स्थितियों को अपने में समाये रखता है और देशकालगत स्थितियों के अनुसार उन्हें नया अर्थ एवं युग-संभावनाओं के अनुरूप कलात्मक उपकरण के रूप में अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

इस कलात्मक उपकरण अर्थात् अतीत-परंपरा के मुहावरे का सहारा लेना रचनाकार के लिए गंभीर चुनौती और सामाजिक-नैतिक दायित्व है अतः उसे स्वीकारने से पूर्व रचनाकार को उस परंपरा विशेष से संबंधित लोक-आस्थाओं एवं उसके स्रोत को जानना बेहद जरूरी है। किसी विशेष देशकाल में ऐसे ही अतीतोन्मुखी रचनात्मक स्रोत स्वीकार हो सकते हैं जिनके प्रति जन-स्वीकार का आधार व्यापक हो, जो जनमानसिकता में रचे-बसे हों, जिनकी ऐतिहासिक-पौराणिक प्रासंगिकता लोकायत में जानी और स्वीकारी जा सकती हो। यदि ऐसा नहीं है तो ऐसे रचनात्मक प्रयोग अर्थ की जगह अनर्थ पैदा कर देते हैं। रचनात्मक कर्म में इस अतीतजीविता का प्रयोग दो रूपों में हो सकता है—व्यक्तिनिष्ठ और समष्टिगत उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए। युगीन प्रासंगिकता में जनमानसिकता के अंतर्विरोध, सत और असत का संघर्ष, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन की वृहत्तर माँग का जो यथार्थ मुँह बाए खड़ा है यदि उसका कलात्मक आलेख लोकायत को ध्यान में रखते हुए इस अतीतोन्मुखी आवरण में रचनाकार करता है तो वही वास्तविक परंपरा का विकास है।

स्वतंत्रता के बाद का सबसे अधिक प्रतिष्ठित नाट्य-कर्म (मोहन राकेश और सुरेंद्र वर्मा आदि के रूप में) रूपवाद के अतिशय मोह में पड़कर ऐतिहासिक मुहावरे का सहारा ले रहा है, लेकिन लोकायत के अनुरूप उसमें युगीन संगीत और परंपरा के वांछित विकास का तिरोधान है। अतीत-संदर्भों की रचनात्मक उपयोगिता में इन रचनाकारों द्वारा वर्तमान के अनुकूल जिस किसी भी पात्र अथवा प्रसंग का आश्रय लिया गया, उसमें युगीन सार्थकता की बजाय निजी आकांक्षाओं का प्रभुत्व अधिक देखने को मिलता है जबकि भारतेंदु और प्रसाद-स्कूल के नाटककारों ने अपने अतीतोन्मुखी आवरण में युगीन संगति को बड़ी ईमानदारी से स्थापित किया। स्वतंत्रतापूर्व के नाटककार अपनी अतीत की विरासत को समझते थे और समझाना चाहते थे। उनकी यह धारणा थी कि किसी प्राचीन कथा भाग का इस बुद्धि से संगठन किया जाए कि देश की उससे कुछ उन्नति हो और इस आकांक्षा में वे जनमानस की बदलती अंतर्वृत्तियों एवं सामाजिक रीति-नीतियों को ध्यान में रखकर इस तरह के नाटक लिखना चाहते थे जो स्वदेशानुराग उत्पन्न कर सके। भारतेंदु आज भी इसीलिए कालजयी हैं।

सांस्कृतिक पुनर्जागरण, राष्ट्रप्रेम तथा उदात्त मानव-मूल्यों से प्रेरित प्रसाद ने जिन अतीत-प्रसंगों का चुनाव किया वे मूलतः क्षात्र-धर्म के अनुकूल थे और कर्मकांडी व्यवस्था से उत्पन्न वर्ग-व्यवस्था, धार्मिक मतभेद, सामाजिक-आर्थिक व्यवधान, सांप्रदायिक टकराव—इन सब को ऐतिहासिक संकेतों से दूर करने का व्रत लेते हुए सामाजिक-राष्ट्रीय अखंडता एवं अपने प्रतीकार्थ में एकजुट संघर्ष का शंखनाद करना चाहते थे। प्रसाद ने इतिहास के पन्नों से जिस गुप्त वंश का चयन किया, वह मात्र संयोग नहीं अपितु युग-सापेक्ष आवश्यकता थी। आर्यावर्त के बौद्ध अनुयायी शासकों की अहिंसक नीति तथा वैलासिक इच्छाओं का लाभ उठाकर यवन आक्रांता आर्यवर्त्त की सीमाओं में घुसता चला आ रहा था। ऐसे में स्वप्नदर्शी प्रसाद ने अनुभव किया कि राष्ट्रीय मुक्ति के लिए फिलहाल बौद्धधर्म की रूढ़ धारणाओं को दरकिनार करना होगा और इस धर्म को स्पष्टतः उपेक्षित किये बिना चाणक्य के प्रतीक में ब्रह्म नीति स्थापित करते हुए ऐसे क्षात्र धर्म को लाना होगा जो विभाजित भारत को एकसूत्र में बाँध सके, राष्ट्रीय चरित्र पैदा कर सके और गलत रूढ़ियों एवं परंपराओं को छोड़कर स्वस्थ एवं समयानुकूल रीति-नीति अपना सके। यही नहीं उनका चाणक्य अपनी वैयक्तिकता को विराट विश्व की कल्याणमयी चेतना में विलीन करने वाला देशकाल की सीमाओं से मुक्त विश्वमानव है। लोकमंगल की कामना से ही उसके व्यक्तित्व सूत्र संगठित हुए। प्रसाद के अनुसार चाणक्य का ब्राह्मणत्व समस्त विश्व में व्याप्त मानव-हित के चिरंतन सत्य विचारों का अक्षय कोष है। विश्व के जिस स्थान पर वैचारिक औदात्य विद्यमान है, नाटककार के विचार के वही ब्राह्मणत्व की सत्ता है। वस्तुतः यही इतिहास-परंपरा का विकास है। उनके प्रत्येक नाटक में उदात्त मानव-मूल्यों की सार्थक पहचान को तत्कालीन प्रासंगिकता एवं कालजयी मूल्यपरंपरा में पुनर्जीवित करने का उपक्रम किया गया वे है—संस्कृति एवं राष्ट्र-प्रेम, मानवीय दृष्टि, विश्वमैत्री एवं मानवता, करुणा, वीरत्व, त्याग, बलिदान, स्वतंत्रता एवं एकता आदि। कहना न होगा जब तक जाति, राष्ट्र एवं मनुष्य समाज रहेगा तब तक प्रसाद प्रदत्त मूल्यात्मक संसार का औचित्य भी बना रहेगा। कहना चाहिए कि युग-यथार्थ की पारस्परिकता में स्वतंत्रतापूर्व के नाटककार लोक अथवा समष्टिगत उद्देश्यों तथा राष्ट्रीय आकांक्षा से अभिन्नतः जुड़े रहे लेकिन स्वातंत्र्योत्तर नाटककारों ने प्रायः व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि से इतिहास-परंपरा का आश्रय लिया। वे बदलते रूप तत्त्व में उस व्यापक सत्य की खोज एवं परंपरागत सांस्कृतिक मूल्यों का नवीनीकरण नहीं कर पाए जो महत्तर मानवीय संदर्भों को उजागर करने में सहायक हो। अतीत का अवलंब पकड़ इन नाटककारों ने ऐतिहासिक प्रतीकों की पहचान को तोड़ा-मरोड़ा और उनकी सांस्कृतिक गरिमा का अवमूल्यन कर इतिहास की घोर अनैतिहासिक व्याख्या की।

प्रश्न उठता है कि भारत जैसे विकासशील देश की मूलभूत समस्याएँ क्या हैं? सेक्स तो कम से कम नहीं है। जो देश अभी तक रोजी-रोटी, सुरक्षा-व्यवस्था, रोजगार, सांप्रदायिकता, जाति एवं भाषाई विवादों, भ्रष्टाचार तथा राष्ट्रीय-सांस्कृतिक मूल्यों-सवालों को भूलकर निहित स्वार्थों की आपाधापी में हताश, उदास और यहाँ तक कि वहशी बना हुआ है वहाँ इतिहास-परंपरा के नाम पर सेक्स-प्रसंग स्थायी तो क्या उसका क्षणिक उपचार भी नहीं कर सकते। लेकिन दुर्भाग्य से पश्चिमी संस्कृति और वातावरण विज्ञान से प्रभावित मध्यवर्गीय, बुद्धिजीवी रचनाकारों द्वारा कला के नाम पर हमारी गौरवमयी सांस्कृतिक विरासत को तोड़ डाला गया और नव-धनाढ्य वर्ग की फुर्सतिया आधुनिकता की तुष्टि के लिए अतीत के आंतरिक प्रकोष्ठ में ढूँढ-ढूँढ कर ऐसे प्रसंग खोज निकाले गये जो न तो परंपरागत सापेक्षता में फिट होते हैं और न ही वे युग-धर्म अथवा उसके अंतर्विरोध को व्याख्यातित करते हैं। इस तरह के नाटककार महज ऐसी कठपुतलियाँ साबित हुए हैं जिनकी डोर किसी और के हाथ में है और वे स्वयं

तो नाच ही रहे हैं, सीधी-सादी निम्न मध्यवर्ग की उस पीढ़ी को भी दिग्भ्रमित कर रहे हैं जो फिलहाल अपने गंतव्य का चुनाव नहीं कर पाई है। पश्चिमी अपसंस्कृति में आमग्न डूबे इन बुद्धिजीवी सर्जकों को भारतीय संदर्भ और अंतर्विरोध दिखाई नहीं देते। फलतः वे अपनी जमीन से उखड़ने लगे हैं। उनके सृजन पर मिथकीय रूपवाद का मोह इस कदर हावी है कि वे नुमायशी बनकर रह गये हैं और उनके नाटक लीला, यात्रा, स्वांग की तरह जन-मन के रू-ब-रू सरे आम चौराहों पर खेलने लायक नहीं बल्कि बुर्जुआ पीढ़ी द्वारा निर्मित वातानुकूलित थियेटरों में खेले जाते हैं। कामू, सार्त्र तथा नीत्शे जैसे पश्चिमी दार्शनिकों का अस्तित्त्ववाद तथा क्षणवाद उनके नाटकों का मूल स्वर बन जाता है और असहायता, विकल्पहीनता, कुंठा, भय, संत्रास अजनबीपन, अनीश्वरवाद जैसे अप्रासंगिक चिंतन सूत्रों को वे मूल्यों के रूप में उद्‌घाटित करके जनजीवन की आकांक्षाओं को और अधिक असहाय बना रहे हैं। वे हमें हमारी परंपराओं, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक मूल्यों से काटकर आज के जलते-उबलते प्रश्नों एवं संघर्षो से उसी तरह आँख बंद करा देते हैं जैसे बिल्ली के आने पर कबूतर आँख मींच लेता है और यह समझने का भ्रम करता है कि संकट टल गया।

इस वर्ग के अत्यधिक प्रचारित और प्रसारित नाट्य-कर्मियों की प्रतिनिधि मसीहाई संभाले मोहन राकेश और सुरेंद्र वर्मा के नाट्य-संसार में झाँक कर अपनी बात को आगे बढ़ाया जा सकता है। मोहन राकेश मध्यवर्गीय रचनाकार थे, लेकिन उनकी चिंतन-यात्रा और रचनात्मक उपलब्धियों में भारतीय मध्यवर्ग का स्वाभाविक विकास नहीं हुआ। पश्चिमी चिंतन की अंग्रेजीदां भारतीय संतानों ने आजादी के बाद भारत के स्वाभाविक अंतर्विरोधों, घात-प्रतिघातों, राष्ट्रीय आकांक्षाओं के उबलते ज्वलंत प्रश्नों एवं आर्थिक-सांस्कृतिक मूल्यों को तथाकथित गणतंत्र के कंधों पर डालकर भारत की जमीन पर बासी एवं अराष्ट्रीय रीतिकालीन कला के अनुरूप अंतर्राष्ट्रीय ज्ञान-विज्ञान की अपने तहत विशेष खिड़कियाँ खोलकर उस हवा में ठण्डी साँस लेते हुए अपने को आधुनिक एवं अत्याधुनिक करार करना शुरू कर दिया। जाहिर है कि नई-नई आजादी वह भी हजार साल बाद जिस तरह से मिली उसका मध्यवर्ग में अपने-अपने तरीके से अर्थ लगाना शुरू कर दिया। 'गर्महवा' जैसी फीचर फिल्म के नायक बलराज साहनी से जब तांगे वाले का यह कहना कि 'मियाँ आठ आने के जमाने लद गये अब आजाद हिंदुस्तान में तो दो रुपये ही लगेंगे, आठ आने में जाना है तो पाकिस्तान चले जाओ।' इस पर दुःखी हो बलराज साहनी का यह कहना कि 'उतरो मियां, नयी-नयी आजादी मिली है, पता नहीं कितने-कितने इसके नए अर्थ लगाए जायेंगे।' संभवतः ऐसे ही चिंतन को इशारा देते हैं जिसके कारण भारतीय जमीन की सोंधी महक अथवा तपिश हमारे मध्यवर्ग के अंतर्नेत्रों में नहीं समा पायी और वह आधुनिक बनने की लालसा में योरोपीय वातायन खोल बैठे। कविता में इसके मसीहा अज्ञेय बने तो नाटक में मसीहाई अंदाज की नींव डाली धर्मवीर भारती ने और उस पर भवन निर्माण का जिम्मा मोहन राकेश ने ले लिया—आज जिसको 'आधुनिक नाटक का मसीहा' कहकर आलोचकों की जमात प्रशंसा करते नहीं अघाती।

यह निर्विवाद है कि रंगधर्मिता का बाहरी आवरण राकेश के नाटकों में अपवाद रूप से विशिष्ट है और इसकी आलोचना भी अपवाद रूप से अधिक हुई है, लेकिन बाहरी ताम-झाम ही तो अंतिम सत्य नहीं है, सत्य है उसके भीतर का ध्वनित संसार, जो लोक परंपरा, उनकी आस्थाओं एवं विश्वास तथा जनाकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व कदापि नहीं करता। असल में अधिकांश मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों ने अपनी नासमझी अथवा चतुराई से जाने-अनजाने रेखा ही गलत खींची जो सरसरी निगाह में 180 डिग्री की रेखा जैसी लगती थी, लेकिन ज्यों-ज्यों समय आगे बढ़ा रेखा का कोण ही बदल गया और परवर्ती अधिकांश सुविधा भोगियों ने उसे सफलता की पटरी मानकर कांटा ही बदल दिया और एक-आध जागरूक रचनाकार विशेष को छोड़कर अधिकांश नाटककार एवं उसके आलोचक इसी पटरी को सत्य मानकर सार्त्र, नीत्शे, कामू, काफ्का, एलियट तथा फ्रायड की बोलियाँ बोल रहे हैं—भारतीय परंपरा की गैर भारतीय आड़ लेकर।

'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास और 'लहरों के राजहंस' के प्रच्छन्न नायक महात्मा बुद्ध की इतिहास-परंपरा और वैज्ञानिक प्रासंगिकता का बोल राकेश की जुबानी उघड़ता नजर आने लगता है, जब वे एक तरफ परंपरा को 'सतत विकासशील', 'जीवन की परंपरा' से जुड़ा हुआ मानकर यह स्वीकारते हैं कि आप लाख अंग्रेजीदां हों, लेकिन हल्दी और मेंहदी को अपने जीवन से निकाल नहीं सकते। इन शब्दों से हमारे हजारों वर्ष के कुछ रागात्मक आसंग जुड़े हुए हैं। कलाकार की सृजन-चेतना अपने भीतर पूर्वजों के संस्कार, सदियों का जातीय अनुभव, अपने चारों ओर के जीवन का प्रतिबिम्ब व्यावहारिक और पुस्तकीय ज्ञान सब कुछ समाये रहता है (मोहन राकेश : साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि)। जीवन की परंपरा में जीनेवाले, अपने चारों तरफ के वातावरण को कला में समाये रखने वाले तथा हल्दी और मेंहदी के रंग रचे हुए मोहन राकेश ने सफलता की सीढ़ी पर चढ़ने की आकांक्षा में इतिहास को अपने दोनों नाटकों में घोर अनैतिहासिक दृष्टि से स्वीकार किया है और स्वस्थ पारंपरिक आस्था को धर्मवीर भारती के समानांतर गैर-पारंपरिक समझ में धकेल दिया—भले ही वह इतिहास की खोल में लिखा जाने वाला 'आषाढ़ का एक दिन' हो अथवा 'लहरों के राजहंस'। यद्यपि नाटककार मोहन राकेश बार-बार इस बात पर जोर देते हैं कि पहले नाटक में कालिदास और दूसरे में परोक्ष रूप में महात्मा बुद्ध उनकी द्विविधा, तनाव एवं अंतर्द्वंद्व को प्रगट करने वाले सर्वाधिक सफल प्रतीक थे। लेकिन दोनों नाटक जिस द्विविधा, तनाव एवं अंतर्द्वंद्व को लेकर लिखे गये हैं उनके लिए यदि उन्हें इतिहास की आड़ लेनी ही थी—क्योंकि सफलता की सीढ़ी पर चढ़ने के लिए ऐसा प्रयोग अनिवार्य हो गया था—तो उन्हें सांस्कृतिक आस्था के धनी कालिदास एवं कर्मकांडी व्यवस्था के विद्रोहक एवं जन-जागरण के लोकवाहक बुद्ध की अपेक्षा भर्तृहरि को अपने नाटकों का बाह्य स्रोत बनाना चाहिए था क्योंकि इन नाटकों में जो भावुक शृंगारिक आस्था, उसकी टूटन और सब कुछ को छोड़-छाड़ कर नीति और वैराग्य की झलक इन नाटकों में मिलती है उसे भर्तृहरि के शृंगार, नीतियों एवं वैराग्य शतकों में भली-भाँति जाना, जाँचा और परखा जा सकता है। 'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास का 'भावना में भावना का वरण' उसकी छाया में जीने वाली भावमूर्ति मल्लिका और प्रियंगुमंजरी के वरण के बाद सत्ता का यथार्थ और भावना का अंतर्द्वंद्व, पुनः लौटकर भावना के वरण की आकांक्षा और कालिदास का मोहभंग

तथा सीमित भावना से उत्पन्न शृंगार के झटके से प्रतिफलित वैराग्य की सृष्टि और इधर नंद की शृंगारिक अभिलिप्सा में नित नूतन परिवर्तन की आकांक्षा, सुंदरी का इसके विरोध में अपनी अहंमन्यता, घात-प्रतिघात और परिणामतः जमीन की आकांक्षा से ऊपर उठकर नंद बुद्ध की शरण में जाने की वैरागिक चाह—यह सब भर्तृहरि नहीं तो क्या है। भर्तृहरि ने भी अपने इन तीनों आयामों में कितनी दुविधा, कितने तनाव और अंतर्द्वंद्व झेले होंगे इसका अंदाज लगाया जा सकता है। लेकिन सफलता की चाह में मोहन राकेश ने प्रयोगों की आड़ में हमारे महत्त्वपूर्ण-ऐतिहासिक स्रोतों को केवल समकालीन बनाने की चाह में और वह भी अपने विशिष्ट अभिजात वर्ग की आकांक्षाओं के अनुरूप इस कदर नष्ट किया कि हल्दी और मेंहदी केवल शृंगारिक प्रसाधन बन कर रह गयी, 'ब्यूटी पार्लर' की दुकानों में सीमित होकर जमीन की सोंधी महक और उसके अंतराल में पड़ी दूरियों को वर्तमान संगति में जोड़ने की चाहना मोहन राकेश को रही ही नहीं। अपनी ऐतिहासिकता में कालिदास सृजन-सौष्ठव के सर्वोत्तम प्रतीक कहे जा सकते हैं और समकालीनता में राजाश्रय की सांकेतिकता में उन्होंने सृजनधर्मा रचनाकार के अस्तित्त्व को विघटित करने वाला बताकर उसे कालिदास की ऐतिहासिक संगति से जोड़ा है, लेकिन क्या कालिदास का जीवनानुभव और उनके महत्तर रचना-संकल्प एवं प्रणयन सीमित रागों, अनुभवों एवं वातावरण से अनुस्यूत हुए थे जो 'आषाढ़ का एक दिन' में आरोपित हुए हैं? नाटक में कालिदास का आत्म स्वीकार (लोग सोचते हैं...शकुंतला के रूप में तुम्हीं मेरे सामने थी, पृ. 109) ऐतिहासिक कालपुरुष को यथास्थितिवाद अथवा सृजनात्मक जड़ अवरोध में समेट कर रख देता है जबकि रचनाकार सदैव नये अनुभव, नयी जमीन को तोड़ता हुआ आगे बढ़ता है और यही सब कुछ कालिदास ने न किया होता तो हजारों वर्षों के बाद भी कालिदास आज कालिदास नहीं रहे होते। अतः यथास्थितिवाद एवं जड़ता में मोहन राकेश जीवन में (अपने) सृजन की सीमित रेखाएँ तो खींच सकते हैं, लेकिन इतिहास-परंपरा के महान सांस्कृतिक प्रतीक कालिदास को सीमित अनुभवी, भगोड़ा, कायर, आत्म-सीमित एवं पलायन तक सीमित करके उनके प्रति ऐतिहासिक न्याय नहीं करते।

'लहरों के राजहंस' में ऐतिहासिक मिथ ने अपना विचित्र रूप धारण कर लिया है। स्वयं मोहन राकेश भी मानते हैं और नाटक की प्रक्रिया भी नंद और श्वेतांग के समन्वय में इसकी गवाही देता नजर आता है कि प्रच्छन्न रूप में ही सही 'महात्मा बुद्ध' ही इस नाटक के नायक हैं और सुंदरी इसका निष्कर्ष देती है—व्यंग्यपूर्ण संवाद से—''नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।'' (लहरों के राजहंस, पृ. 55) क्या यह नाट्य-विडंबना नहीं है कि राजकुमार सिद्धार्थ सिर्फ नारी के आकर्षण की वजह से ही गौतम बुद्ध बने थे। गौतम बुद्ध का ऐतिहासिक महत्त्व इतना कम करके जांचना सचमुच लोकायत की मिथकीय आवश्यकता के प्रति अन्याय होगा। वस्तुतः महात्मा बुद्ध इससे हटकर महात्मा बुद्ध इसलिए बने कि उन्होंने वैदिक कर्मकांडों की अंधमान्यताओं, तांत्रिक जादू-टोनों एवं आत्मविकास के लिए अपनायी गयी कठोर यातना साधनाओं का विरोध किया; इन कर्मकांडों से उत्पन्न गतिरोधों को तोड़ा, चार्वाक की परंपरा के विरोध में आंदोलन छेड़कर एक स्वस्थ सांस्कृतिक आंदोलन चलाया तथा एकांतजीवी व्यक्तिवादी एवं समकालीन सुविधाभोगी पतनशील संस्कृति के समनुरूप तत्कालीन विलासप्रिय व्यक्तिवादियों का विरोध करते हुए संघ जीवन का निदान दिया। ऐसे गौतम बुद्ध को यदि केवल भोग, कामना के आकर्षण और विकर्षण में केंद्रित करके उसे राजमहलों के अंतः पुर से देखा जाए तो वह न इतिहाससम्मत है और न ही युग सम्मत।

जाहिर है कि ऐसे नाटकीय प्रयोगों में नाटककार मोहन राकेश ने अपनी निगाह छिपाए रखने के लिए प्रयोगधर्मी 'काला चश्मा' पहन रखा था जिसकी वजह से वर्तमान संदर्भ में 'कालिदास' और 'बुद्ध' की जो आस्था-परंपरा है, जिसके कारण वे मिथ बने हैं, वे न केवल टूटे हैं वरन प्रायोगिक व्यामोह में परवर्ती अधिकांश आलोचकों की निगाहों में भी वे और अधिक उलझ गये हैं—शायद इसीलिए मोहन राकेश को पूरे आसंगों में न जाँचकर प्रयोगधर्मिता की पक्षधरता में ही अधिक जांचा गया, रंग-सृष्टि का पितामह घोषित किया गया, परंपरा की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से हटकर फुर्सतिया बदलते मूल्यों के हिसाब से फिट बैठाकर उन्हें तथाकथित आधुनिकता के सिंहासन पर विराजित कर दिया गया। इतिहास-परंपरा के मानदंडों पर मोहन राकेश के नाटकों का परीक्षण करते हुए आलोचक राकेश के नाटकों में ऐतिहासिकता का निर्वाह नहीं मानते फिर भी अपने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उन्हें प्रसाद की परंपरा में क्यों ला कर बिठा देते हैं, यह समझ से बाहर है। प्रसाद के पास राष्ट्रीय आकांक्षा थी और अपने समय की आवश्यकताओं को उन्होंने जिस ऐतिहासिक संदर्भ में रूपायित किया था, क्या मोहन राकेश के नाटक उसका अक्षांश भी प्रकट कर पाये हैं?—सिवाय इसके कि 'आषाढ़ का एक दिन' के काल्पनिक पात्रों—अनुस्वार और अनुनासिक के माध्यम से राजकीय यथास्थितिवाद का वर्णन करने में और वह भी इसलिए नहीं कि यथार्थ का चेहरा उघाड़कर उसे मशाल बनाना हो, बल्कि अपनी केंद्रीय आस्था में घोर नैराश्य का संकेत देने के लिए। असल में परंपरा के नाम पर यदि मोहन राकेश को जोड़ना ही था तो भारती आदि से जोड़ना चाहिए था। कहाँ प्रसाद की आस्थावान सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय परंपरा और प्रासंगिकता और कहाँ मोहन राकेश का वायवी तनाव एवं अंतर्द्वंद्वों की गैर-ऐतिहासिक तथाकथित आधुनिक बुनावट। आलाचकों ने इन्हीं को आधुनिक मूल्य मानकर इन नाटकों में 'व्यक्ति की अहंमन्यता के सवाल को बदला हुआ मूल्य घोषित करते हुए नाटककार की साक्षी दी है भले ही वह पहले नाटक में कालिदास की हो अथवा दूसरे में सुंदरी की। लेकिन व्यक्तित्व की अहंमन्यता का यह मूल्य बदलते मूल्य की पहचान न होकर अतीतधर्मी और हमारे वर्तमान में सांस तोड़ती हुई सामंती संस्कृति का तथाकथित आधुनिक संस्करण है।

रंगसृष्टि को मूल धुरी मानकर जगदीश शर्मा इतिहास-चेतना को कतई महत्त्व नहीं देते और इन नाटकों में नाटककार के स्वर में स्वर मिलाकर 'मूलतः एक कल्पना सृष्टि' कहते हुए यह निष्कर्ष निकाल देते हैं—''इस प्रकार यह नाटक इतिहास की चेतना को पीछे छोड़कर एक गहरी जीवन-दृष्टि के सहारे संवेदना मार्ग पर आगे बढ़ा है। नाटक में मानवीय आकांक्षाओं और समय में द्वंद्व की एक सामान्य अनुभूति मूर्त हुई है, किंतु उसके मूर्तन की प्रक्रिया में ठोस मानस व्यक्तित्व उभरकर सामने आया है।'' अपनी परंपरा से टूटकर वह ठोस मानव

कौन-सा होता है यह जगदीश शर्मा ही जानें, लेकिन यह विडंबना है कि उनका ठोस मानस 'आषाढ़ का एक दिन' में जहाँ तनाव का उत्तरोत्तर उत्कर्ष पाकर बिखरता है तो 'लहरों के राजहंस' में सुंदरी के अहम केंद्रित व्यक्तित्व के घातों-प्रतिघातों में वह अंतर्द्वंद्वों का शिकार हो जाता है।

आलोचकों के हिसाब से ये नाटक मूलतः कल्पना सृष्टि हैं तो प्रश्न उठता है कि इतिहास की अनिवार्यता क्यों? ये तनाव किसके हैं, अहम केंद्रित किसमें हैं? कौन-सा वर्ग-चिंतन है जो इन नाटकों में फलित है, जो इतिहास के नाम पर सब कुछ को तोड़-मरोड़ कर खंडित कर रहा है? यह विचारणीय है।

डॉ. गोविंद चातक, देवेंद्र इस्सर एवं डॉ. सुरेश अवस्थी का चिंतन भी कमोवेश उपरोक्त चिंतन से भिन्न नहीं है। डॉ. गोविंद चातक लिखते हैं—''आधुनिक जीवन के संवेदन को प्रमाणिक तथा विश्वसनीय बनाने के लिए इन नाटकों में अतीत को एक खोल की तरह ओढ़ा गया है। मुख्य वस्तु वह खोल नहीं वरन वह अंतर्द्वंद्व है जिसे सृजन के संदर्भ में नाटककार उठाना चाहता है। क्या विडंबना है कि जैसे हमारा विख्यात अतीत सांस्कृतिक वैभव-गौरव की पहचान न रहकर महज खोल हो गया—मनमाना भूसा करने के लिए। अन्यथा अंतर्द्वंद्व कब और कहाँ नहीं होता, लेकिन एक अंतर्द्वंद्व व्यक्ति-मानसिकता की सीमित इकाई को प्रस्तुत करता है, तो दूसरा अतीत-गौरव के साथ जुड़कर उन आस्था-विश्वासों को यथार्थ के अनुरूप द्वंद्वायित करता है। भले ही विशिष्ट सीमाएँ रही हों, लेकिन जगदीशचंद्र माथुर ने भी अतीतोन्मुखी आयामों में नेहरू-युग के अंतर्द्वंद्वों को और उनसे उत्पन्न संकल्पों को अपने नाटकों में प्रासंगिकता दी है। इतिहास का खोल न ओढ़कर यदि सामान्यतः मोहन राकेश यह सब कह देते तो बात अलग थी, लेकिन खोल की आड़ में एक नया और खोल क्यों? सचमुच ये समझ से बाहर की बात है कि देवेंद्र इस्सर और डॉ. सुरेश अवस्थी भी एक स्वर में यह स्वीकारते हुए नजर आते हैं कि उनके नाटकों में न तो ऐतिहासिक कथानक की प्रामाणिकता को ढूंढ़ने की जरूरत है और न ही उसका कोई अर्थ जानने की। वस्तुतः ये नाटक तो समकालीन जीवन को नया अर्थबोध देने के लिए प्रासंगिकता में समझने और मोहन राकेशीय व्याख्या करने की भूल प्रायः सभी आलोचकों ने की है। रंग-सृष्टि, शब्द-शिल्प, अभिनय-कौशल, अंक-विभाजन आदि अभिनय सम्मत प्रायोगिक क्षमताओं में मोहन राकेश निःसंशय नाट्य-कला के धनी थे। अतः उनके प्रायोगिक खोल के चमत्कार में आकर अधिकांश आलोचकों ने खोल के भीतर के वस्तु-सत्य को नजरअंदाज करके अभी तक उनकी अभिशंसनाएँ की हैं तो यह महज संयोग नहीं बल्कि स्वाभाविक ही था। मोहन राकेश की नाट्य उपलब्धियों को आयातित चिंतन के दिग्भ्रम में अभी तक बहुत महत्त्व देकर आंका जाता रहा है, लेकिन यह चिंतन और उनके नाटकों का संवेदन हमारी इतिहास-परंपरा और लोकायत की मनोभूमिका के कितना नजदीक है और कितना दूर, इसे देखना ही इतिहास-प्रयोग की रचनात्मक संभावनाओं और सार्थकता को पहचानना है।

रंगमंचीय पत्रकारिता के हिसाब से सुरेंद्र वर्मा ने आधुनिक जीवन-संघर्षों को विचार आंदोलनों की पृष्ठभूमि में पूरी समग्रता से उभारने के लिए इतिहास का अपनी नाट्य-रचनाओं में उपयोग किया। लेकिन वर्तमान में रहकर यदि कोई रचनाकार इतिहास में युगीन संदर्भों की अभिव्यक्ति करता है, तो उसका विशेष कारण होना चाहिए। प्रसाद ने भी अपने नाटकों में इतिहास को विषय बनाया क्योंकि ब्रिटिश राज में इतिहास-संदर्भों में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक प्रश्नों को उजागर करना एक विशेष कलात्मक मजबूरी थी। उस समय विदेशी शासन घटनाक्रमों का संदर्भ देकर नहीं लिख सकता था। अतः प्रासंगिक एवं संदर्भ सापेक्ष दृष्टि के साथ सृजन के लिए अतीत-प्रसंगों का ग्रहण उसके लिए एक विवशता बन गई थी, लेकिन यदि सिद्धांतहीन कामग्रंथि के शिकार होकर यौन संबंधों की विकृति एवं विद्रूपताओं को ही नाट्य-रचनाओं में संदर्भित करना था तो सुरेंद्र वर्मा के लिए इतिहास की आड़ लेना कौन-सी मजबूरी थी? क्योंकि कमोवेश अपनी जिस आकांक्षा की पूर्ति हेतु सुरेंद्र वर्मा ने इतिहास की आड़ में अतीत को व्यक्तिवादी संगति प्रदान की है तो क्यों नहीं उन्होंने रमेश बक्षी (देवयानी का कहना है, वामाचार, तीसरा हाथी) तथा सुशीलकुमार सिंह (चार यारों की यार) की भांति समकालीन रचना-प्रसंगों को अपने नाटकों का आधार बनाया है।

इतिहास को केवल फैंसी ड्रेस की तरह अपनाकर जन-चेतना में उलझन पैदा करना रचनात्मक ईमानदारी नहीं है। जनात्मक समझ को अग्रेषित करने में इतिहास का योग अपूर्व है क्योंकि साहित्य जन-जीवन को दिशा-निर्देश देने वाला होता है और यह दिशाबोध उपजता है—अपने परिवेश की समस्याओं और स्थितियों से जूझकर। क्या स्वतंत्रता हासिल करने के बाद भारतीय मानस सेक्स की तपनशील संस्कृति से जूझ रहा है?—जो सुरेंद्र वर्मा के नाटकों का मूल स्वर है। स्वतंत्रता के बाद का इतिहास-दर्शन और स्थितियाँ इस बात की साक्षी हैं कि हमारे देश में राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर पर भूख बेरोजगारी, लालफीताशाही, भ्रष्टाचार, घूसखोरी, भाषायी विवाद, जाति एवं साप्रदायिक तनाव, आंतकवाद, हिंसा एवं न्यायायिक अव्यवस्था के चलते सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय विघटन की स्थितियाँ पैदा हो चुकी हैं। आर्थिक असमानताओं तथा कानूनी प्रवंचनाओं ने देशवासियों को झकझोर दिया है, फिर भी न जाने क्यों रचनाकार सुरेंद्र वर्मा देश की इन विकट समस्याओं से अलूफ सेक्स की केंद्रीय धुरी पर इतिहास को घुमा रहे हैं। हमारे समााजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश में इस प्रकार की मरणशील मानसिकता को इतिहास-सम्मत कहकर शक्तिशाली बनाना प्रासंगिक-सत्य से जनचेतना को गुमराह करना है और साहित्यिक-धर्म के प्रतिकूल भी।

बहरहाल, तथाकथित अभिजात संस्कृति और उच्चवर्ग की पतनशील संस्कृति को अपने नाटकों द्वारा प्रदर्शित करने वाले सुरेंद्र वर्मा का कहना है कि ''मैं उन्हीं चीजों के बारे में लिख सकता हूँ जो मुझे उद्वेलित करती हैं। वे किसके लिए हैं— यह जानना मेरे लिए मुश्किल है...शायद उतना महत्त्वपूर्ण भी नहीं।...मैं आशावादी हूँ अभी इस प्रकार के नाटक होने दीजिए...इससे जनता की रुचि का भी परिष्कार और संस्कार होगा। 'संदेह नहीं कि जीवन की वास्तविकताओं से दूर 'टाइम पास' करने के लिए फैशन के तौर पर थियेटर देखने वाले नवधनाढ्य वर्ग को सुरेंद्र वर्मा के नाटकों ने काफी हद तक आकर्षित किया है, लेकिन इतिहास की जन-संपदा को व्यक्ति-मन की कुंठाओं के साथ घोल कर पेश करना क्या जनचेतना को संस्कार-विहीन बनाने का

षड्यंत्र नहीं है। क्या केवल सेक्स में ही उद्वेलन शक्ति है जिससे सुरेंद्र वर्मा अपने हर नाटक में उद्वेलित हुआ है। (विकृत) काम-मूल्यों और उसके नंगे यथार्थ को दर्शक-वर्ग के सामने प्रदर्शित करके वे कौन सी जनता अथवा प्रेक्षक-समूह की रुचि का परिष्कार और संस्कार करना चाहते हैं। कहा जाता है कि सुरेंद्र वर्मा नयी पीढ़ी के प्रयोगशील नाटककार हैं। लेखकीय स्वतंत्रता के साथ लेखकीय दायित्व और समाज-निर्माण की प्रक्रिया में रचनाकार का योगदान अपेक्षित है लेकिन मनुष्य की राजसी एवं तामसी वृत्तियों का ही रचनाओं के माध्यम से पोषण करना संस्कार और परिष्कार का कौन-सा रूप है। वैचारिक बदलाव (क्रांति) की बजाय यदि नाटककार प्रेक्षकीय संवेदन को यौन-संबंधों के व्यामोह में डालकर पुरुष और नारी को भोगी एवं भोग्या के उसी पुराने (शोषक और शोषित के) बुर्जुआ रूप में प्रस्तुत करते रहेंगे तो इतिहास की झूठी गवाही से सामाजिक चेतना आगे कैसे बढ़ेगी। सच पूछा जाए तो आगे बढ़ने-बढ़ाने की बजाय ऐसे नाटककार हमें आदिम युग में ले जाना चाहते हैं जब स्वच्छंद काम-व्यापार ही सब कुछ था, सेक्स के मामले में मनमानी अराजकता थी और मैथुन सुख ही जब मनुष्य के लिए सर्वोपरि था। यौन संबंधों के ऊपर भी मनुष्य का अस्तित्त्व है, लेकिन वे चीजें रचनाकार को उद्वेलित करके सृजन के लिए नहीं उकसातीं।

सुरेंद्र वर्मा के इतिहास-संसार में भोगवादी दर्शन लिए पुरुष पात्र एक से अधिक नारियों को भोगना चाहते हैं और स्त्री-चरित्र कई-कई पुरुषों का संसर्ग चाहती है। यौन-चर्चा ही जहाँ पारस्परिक चर्चा क्रम का आदि, मध्य और अंत है माँ बेटी की यौन-क्रियाओं में रुचि ही नहीं लेती, अपितु उसे उकसाती भी है (द्रौपदी), बेटा माँ के काम-जीवन की 'रत्न-मंजूषा' खोलकर स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करता है, माँ पर-पुरुषों से स्थापित प्रेम-संबंधों को न्याय-संगत ठहराकर विवाहेतर प्रेम-संबंधों की सार्थकता की वकालत करती है (सेतुबंध), दो नारी पात्र परस्पर के वार्ताक्रम में अपनी स्वामिनी की अभिसार लीला का मनोयोगपूर्वक वर्णन करते हुए स्वयं भी उसी अभिसार सुख में तल्लीन हो जाती हैं (आठवां सर्ग), राजा अपनी परिचारिका से पूछता है कि वह अपने पति से सप्ताह में कितनी बार मैथुन करती है और दासी अपने उस अंतरंग संभोग-कलाप को निर्लज्जता के साथ राजा के सामने बखानती है। यौन-सुख से अनभिज्ञ शीलवती नियोग-प्रथा के अंतर्गत धर्मनटी बनकर केवल एक रात अपने पूर्व प्रेमी प्रतोष के साहचर्य में व्यतीत करती है और उस एक रात के अनुभव में ही इस हद तक वाचाल हो जाती है कि महामात्य, महाबलाधिकृत, राजपुरोति एवं राजा से यौन-संबंधी ऐसे-ऐसे प्रश्न करती है कि बड़े-बड़े सेक्स विशेषज्ञ भी आवाक रह जाएँ। (सूर्य की अंतिम किरण से...) उनके नाटकों में इतिहास के पात्र-प्रसंग बदल गये हैं, लेकिन बात सेक्स के इर्द-गिर्द ही रही है। सेक्स की केंद्रीय संवेदना के साथ अस्तित्त्व संकट, व्यक्तित्व-विघटन, सृजन की स्वतंत्रता, व्यक्ति और व्यवस्था के द्वंद्व, मनोविश्लेषण की रोशनी में समाज और व्यक्ति की कुंठाओं आदि का प्रदर्शन उनके नाटकों में हुआ है, लेकिन वर्तमान की संगति स्थापित करने के प्रयास में इतिहास-परंपरा का ऐसा असंगतिपूर्ण रूप उनके नाटकों में उभरता है जिसे देखकर ऐतिहासिक विरासत के प्रति विरसता उत्पन्न हो जाए। वस्तुतः यह महानगरीय जीवन बोध में आयातित ह्रासशील मूल्यों की आधुनिकता के नाम पर ऐंद्रिक माँगों की इतिहास द्वारा छद्म पूर्ति का प्रयास है। अतः सेक्स के नाटकीय व्यापार में इतिहास परंपरा की सतस प्रवाहमानता और गत्यात्मकता में यह ठहराव पैदा करने की शत्रु-वर्ग के इशारे पर की गई साजिश, है जो भटकने के रास्ते ही खोलती है।

इतिहास-परंपरा की आड़ लेकर इस तरह की मनमानी निश्चय ही सृजनात्मक ईमानदारी नहीं, अपितु निजी ग्रंथियाँ हैं जो दूसरे का नाम लेकर अपने लिए विलासित अथवा बचे रहने की आजादी लेती है। ऐसा करना न तो परंपरा का मूल्यपरक अग्रेषण है और न ही राष्ट्रीय-सांस्कृतिक अस्मिता का पुरुषार्थ-प्रदर्शन बल्कि इस प्रकार का नाट्य-कर्म औपनिवेशिक विकारों का जाल बुनने के समान है जिसमें केवल व्यक्ति ही नहीं, राष्ट्र की सामूहिक अस्मिता धीरे-धीरे फँस कर दम तोड़ देगी।

पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

●

निन्दक नियरे राखिये

यामिनी गौतम

मैं जब भी 'निंदक नियरे राखिये' की इस सूक्तिपरक परामर्श से पूर्ण हितैषी वाणी पर चिंतन-मनन करती हूँ, तभी मुझे इसमें असीम संभावनाएँ परिलक्षित होती प्रतीत होती हैं। इसकी गहराई में से नवीन अर्थों की प्रेरणा मिलती है। जीवन में स्व के परिमार्जन के लिए आत्मालोचन की बहुत आवश्यकता है। केवल दोष दृष्टि से अन्वीक्षण ही 'निंदकनियरे' का तात्पर्य नहीं है। अपने जीवन को उन्नयन की दिशा में अग्रसर करने के लिए यह अनिवार्य है कि हम अपनी भी जाँच पड़ताल करें, तब ये पंक्तियाँ 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई' की तरह हमारा उद्धार करती है। एक सन्तुलित-दृष्टि से की गयी निंदा स्वभावगत मन की दुर्बलताओं को आइने के सदृश हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है। छोटी सोच, छोटी बुद्धि, सीमित दृष्टि केवल आत्मश्लाघा में ही डूबकर आत्ममुग्ध बनकर परम सुखानुभूति की बेहोशी में पड़े रहना चाहती है। निंदक की छिद्रान्वेषी पैनी कचोट उसे जाग्रत करती है, निंदक की यह दृष्टि कभी-कभी बड़ी ही परोपकारी बनकर, हृदय को सीमित जकड़न से मुक्त कर उदार बनाती है। सोचने और लिखने के वातायन को उन्मुक्त स्थान प्रदान करती है। 'निंदक' हमारी सहन शक्ति का 'टेस्टीमोनियल' है। हम कितने गहरे हैं और क्षुद्रताओं के घेरे से कितना ऊपर उठे हुए हैं, इसकी सबसे बड़ी कसौटी 'निंदक' की दृष्टि है। यह ऐसा प्रक्षालन करती है कि बिना साबुन-पानी लगाये ही अर्थात् किसी भी प्रकार के बाह्य साधन को अपनाकर अपने को नहीं निखारती। अपने को दीक्षित करने का सीधा 'प्रोसेस' आन्तरिक तो होता है, अपार संभावनाओं के सुअवसर से परिपूर्ण भी।

जब जीवन में 'निंदक' इतना महनीय स्थान रखता है तो जीवन के विविध आयामों में क्रान्तिकारी और चमत्कारिक परिणाम भी घटित होते हैं। आत्ममुग्ध मानव को जाग्रत और परिमार्जित कर निंदक बहुत बड़ा संकट भी उठाता है। वह स्वयं भी कभी-कभी दूसरों के कोप का भाजन बन जाता है तो कभी-कभी परम उपकारी भी। इसका निर्धारण भी निंदक की सोच पर निर्भर करता है। निंदा, केवल निंदा तक सीमित होकर जब रह जाती है तब वह अपने विस्तार में छोटी हो जाती है और वही यदि दूसरे के दोष का वीक्षण स्वस्थ दृष्टि से उद्घाटित करती है तो यह संजीवनी बन जाती है।

'निंदक' का कार्य किसी के भी जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना है, वह भी उसे सही दिशा की ओर प्रेरित करने में सहायक होता है। साहित्य के क्षेत्र में यही कार्य एक आलोचक का भी है पर वह सीमित अर्थ तक केन्द्रित न होकर महत् उद्देश्य की पूर्ति के लिए होता है। आलोचक कहे या आलोचना, यह वह आँख है जो सब को सम-तुलित करती है। एक पक्षीय अथवा एकांगी आलोचना कवि-कर्म अथवा नाट्य-कर्म के रसास्वादन में अवरोध उत्पन्न करती है और वही सम्यक् दृष्टि से जब तोलती है तो वह परम सहायक सिद्ध होती है। कभी-कभी तो आलोचना संवेदना को समझने की सुदृढ़ भूमिका का निर्वहन भी करती है। साहित्य जगत में अनेकानेक दृष्टान्त देखे जा सकते हैं, जो रचनाकार की रचना को समझने की अद्भुत क्षमता रखते हैं, कहीं-कहीं प्रतिबद्धता और हठधर्मिता को अपनाते हुए ऐसा 'फ्रेम' गढ़ा जाता है, जिसके 'चौखटे' में जबरदस्ती रचनाकार की रचना 'फिट' करने की हठधर्मिता को अपना कर अर्थ का अनर्थ कर दिया जाता है।

नाट्यालोचना के संदर्भ में भी सबसे अहम् 'रोल' समीक्षक की दृष्टि में होता है। सहृदय आलोचक अपनी अभ्रान्त दृष्टि से नाट्यकर्म की एक-एक परत को पहले स्वयं समझता है, उसे आत्मसात् करता है, पुनः उसी की पैनी और सूक्ष्म दृष्टि ही नाट्यकर्म के प्रत्येक स्वरूप को हमारे समक्ष उद्घाटित करते हुए उसके मर्म से परिचित करवाती है। नाटक की प्रस्तुति, रंग सज्जा, उसकी प्रकाश व्यवस्था, उसकी एकसूत्रता, उसके मूल में छिपी अनन्त ध्वनित होती छवियों को प्रेक्षक तक पहुँचा कर नाट्य कर्म को पूर्णता और सार्थकता प्रदान करती है। जितनी महत्ता नाट्यकर्म की है, उतनी ही महत्ता नाट्यालोचन की भी है। नाट्यालोचना वह सोपान है, जिसके माध्यम से नाटक की मूल संवेदना तक पहुँचा जा सकता है।

ऐसा प्रायः देखा जाता है कि आलोचना-कर्म भी अपनी दृष्टि के अनुसार पारखी बन कर निर्णय देता है, जो कभी-कभी तो सही मूल्यांकन करता है तो कभी-कभी हठधर्मिता के तराजू पर तोल कर मनमाना स्वरूप गढ़ता है। तटस्थ और स्वस्थ दृष्टि को अपनाकर नाट्य कृति एवं नाट्य प्रस्तुति को विवेचित करने वाली संयमित एवं सन्तुलित आलोचना ही सही एवं वास्तविक आलोचना है। अपने व्यक्तिगत निर्णय के चश्मे से की गयी समीक्षा कभी भी कृति से, रचनाकार से न्याय न करने से क्षणजीवी बनकर रह जाती है, जिसका खामियाजा रचनाकार को भुगतना पड़ता है। निष्पक्ष एवं सन्तुलित आलोचना ही स्वस्थ आलोचना होती है जो कवि-कर्म एवं उसकी रंग-प्रस्तुति को लाग-लपेट के बिना सहृदय के समक्ष प्रस्तुत करने की अपार क्षमता रखती है। सहृदय समीक्षक और सहृदय प्रमाता के बीच का यह सम्बन्ध अत्यन्त ही सार्थक भूमिका का एक आदर्श उदाहरण है। सही मार्ग का अनुसरण करते हुए 'नीर क्षीर विवेकी' बुद्धि से किया गया विश्लेषण अति महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

कहा जा सकता है 'निंदक' निंदक न होकर परम हितैषी का कर्तव्य निर्वाहित करता है, ऐसे ही समीक्षक भी सहित्य जगत में आलोच्य कार्य करता है। सुधि आलोचक ही नाटक, नाटककार और सहृदय को सही दिशा प्रदान कर बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाहित करता है। कभी-कभी तो आलोचना की एक पंक्ति भी साहित्य जगत में अमर हो जाती है। यथा—

सूर सूर तुलसी ससि, उड्गन केशवदास, कठिन काव्य के प्रेत-केशवदास
औरे कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया, सतसैया के दोहरे ज्यूं नाविक के तीर।

सेवानिवृत्त एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, मैत्रेयी कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय

●

महाकवि शूद्रक के *'मृच्छकटिक'* की समीक्षा

शशि शर्मा

महाकवि शूद्रक की *'मृच्छकटिक'* संस्कृत नाट्य साहित्य की एक अद्भुत रचना है। नाटककार ने इसमें अपने युग की सामाजिक समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया है। जीवन और समाज की विसंगतियों को लेकर मार्मिक चोट करने वाली घटना के माध्यम से समाज को सही दिशा दिखायी है। संस्कृत नाटकों में 'मृच्छकटिक' को ही यह श्रेय प्राप्त है कि उसे सार्वभौमिक कहा जा सकता है। विश्व के किसी भी क्षेत्र में इसके पात्र, तत्सम परिस्थितियाँ और समस्याएँ प्राप्त होते हैं।

संस्कृत के अन्य महाकवियों की ही भाँति शूद्रक के जीवन-वृत्त की प्रामाणिकता पर प्रश्न चिह्न लगा हुआ है। *'मृच्छकटिक'* प्रकरण की प्रस्तावना के तीन श्लोकों में उनके जीवन के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त होती है।

द्विरदेन्द्रगतिश्चकोर नेत्रः परिपूर्णेन्दु मुखः सुविग्रहश्च।
द्विजमुख्यतमः कविर्बभूव प्रथितः शूद्रक इत्यगाधसत्त्व।।
ऋग्वेद सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकी हस्तिशिक्षां।
ज्ञात्वा शर्वप्रसादात् व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य।।
राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधन चेष्ट्वा।
लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः
समख्यसनी प्रमादशून्यः ककुदो वेदाविदां तपोधनश्च।
परवारण बाहुयुद्धलुब्धः क्षितिपालः किल शूद्रको बभूव।।

शूद्रक, मृच्छकटिकम्, 3-5

उपयुक्त श्लोकों के आधार पर वे सुन्दर आकृति वाले, महापराक्रमी, ब्राह्मणों में श्रेष्ठ, कवि, ऋग्वेद, सामवेद आदि वेदों के ज्ञाता, गणित-संगीत हस्तिविद्या आदि के विशेषज्ञ थे। उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया था और उनकी आयु 100 वर्ष 10 दिन थी। उन्होंने अपने जीवन काल में अनेक युद्ध किये थे। ये शिवभक्त तथा योगविद्या के ज्ञाता थे।

यद्यपि शूद्रक ने मौलिक इतिवृत्त का निर्माण नहीं किया है तथापि इन्होंने 'चारुदत्त' (भास की कृति) के आधार पर एक अनूठी कथावस्तु की सृष्टि की है। इनकी विशेषता यही है कि इन्होंने भास के 4 अंकों वाले *'चारुदत्त'* नाटक में पालक-आर्यक की राजनीतिक कथा को जोड़कर 10 अंकों वाले प्रकरण की रचना की, जिससे वह अधिक रोचक और आकर्षक बन गया है। इन्होंने अधूरी कथा में बँधे रहकर भी उसमें उचित घटनाओं का समावेश किया है और उसे स्वाभाविक गति प्रदान की है। अन्तिम छः अकों की कथा कवि शूद्रक की अपनी उद्भावना है। हम कह सकते हैं कि *'मृच्छकटिक', 'चारुदत्त'* से कहीं अधिक बढ़कर है।

भास का समय 5वीं शताब्दी ई.पू. माना गया है। इस तथ्य के आधार पर भास के परवर्ती होने कारण, 5वीं शताब्दी ई.पू. शूद्रक की पूर्व सीमा निश्चित हुई। अपर सीमा निर्धारित करने में वामन जिनका समय 725 ई. के लगभग है? उन्होंने शूद्रक के प्रबन्ध (नाटक) का उल्लेख किया है। 'काव्यालंकार सूत्र-वृत्ति' में 'मृच्छकटिक' के दो उद्धरण प्राप्त हुए है। जिनमें 'मृच्छकटिक' के द्यूत प्रशंसा परक वाक्य को उद्धधृत किया है। अतः शूद्रक का समय 750 ई. से बाद का नहीं हो सकता है।

शूद्रकादिरचितेषु प्रबन्धेष्वस्य भूयान् प्रपञ्चो दृश्यते।

काव्यालंकारसूत्र–वृत्ति 3-2-4

''द्यूतं हि नाम पुरुषस्य असिंहासनं राज्यम्।''

'मृच्छकटिक' के अन्तः साक्ष्य के आधार पर यह इतिहास का वह काल माना जा सकता है जब गुप्तों के पश्चात् हर्षवर्द्धन तक भारत में कोई सार्वभौम शासक नहीं हुआ था। उत्तर भारत में छोटे-छोटे शासक शासन कर रहे थे। हूणों के आक्रमणों से हिन्दू संस्कृति विक्षिप्त थी। सामाजिक, राजनैतिक मर्यादा छिन्न-भिन्न हो गयी थी। छोटे-मोटे क्षत्रिय राजाओं का अधः पतन हो चुका था। राजा विलास में आकण्ठ मग्न थे। राजा के सगे सम्बन्धी न्यायाधीशों को धमकी देकर मनमाना न्याय करवा लेते थे। प्रजा राजा से असन्तुष्ट थी। नगर रक्षा की व्यवस्था छिन्न-भिन्न थी। राजमार्ग जुआरी चोर, धूर्त, वेश्याएँ से सर्वदा आंतरित रहता था। षड्यन्त्रकारी सिंहासनासीन राजा को सिंहासन से हटाने के लिए षड्यन्त्र रचते रहते थे।

'मृच्छकटिक' रूपक के प्रकरण नामक भेद की कोटि में आता है। 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय लगाकर प्रकरण पद निष्पन्न होता है, जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हैः प्रकृष्ट अथवा उत्कृष्ट रचना। प्रकरण में कल्पना की प्रधानता है—''प्रकर्षेण क्रियते कल्प्यते प्रकरण में नायक, फल, कथावस्तु तीनों ही कल्पित होती हैं। प्रकरण की कथावस्तु लौकिक और कवि कल्पित होती है। वस्तु की नवीनता तथा अन्य नवीन पात्रों की रचनाओं कवि की मौलिकता ही प्रकरण के मूल तत्त्व हैं, जो प्रकरण को नाटक से भिन्न बनाते हैं। प्रकरण का नायक ब्राह्मण, मन्त्री या वैश्य इनमें से कोई एक होता है। धनञ्जय व विश्वनाथ प्रकरण का नायक धीर प्रशान्त प्रकृति का मानते हैं। नायक धर्म, अर्थ और काम में तत्पर तथा विघ्न बाधाओं का सामना करते हुए अपनी इच्छापूर्ति में लगा रहता है। प्रकरण का नायक सामान्य कोटि का तथा उसका वैभव उसके सहायक व सुखोपभोग सामग्री मध्यम कोटि की होनी चाहिए। किसी भी प्रकार का दिव्यपात्र उसकी सहायता हेतु प्रस्तुत नहीं होना चाहिए। मध्यम अधम, धूर्त, जुआरी, दास, विट चेट वारांगनाएँ आदि इसके पात्र होते हैं। *'मृच्छकटिक'* का नायक ब्राह्मण चारुदत्त भी धीरप्रशान्त नायक है। *'मृच्छकटिक'* में कुलजा और गणिका दोनों ही प्रकार की नायिकाएँ हैं। वसन्त सेना गणिका तथा घूता (चारुदत्त की पत्नी) नायिकाएँ हैं। चारुदत्त एवं वसन्तसेना का संगम (मधुरमिलन) कवि शूद्रक के उर्वरक मस्तिष्क की देन है। इसमें प्रकरण के प्रायः सभी लक्षण घटित होने के कारण निश्चित रूप से *'मृच्छकटिक'* एक प्रकरण है।

'मृच्छकटिक' प्रकरण के नामकरण के लिए छठे अंक से छोटी-सी

घटना जिसमें चारुदत्त का पुत्र रोहसेन मिट्टी की गाड़ी के स्थान पर अपने सम्पन्न प्रतिवेशी (पड़ौसी) की सोने की गाड़ी से खेलना चाहता है। गृहपरिचारिका रदनिका उसके मनोविनोद के लिए वसन्तसेना के पास ले जाती है। वसन्तसेना रोहसेन के रोने का कारण जानकर उसकी मिट्टी की गाड़ी में अपने सोने की आभूषणों को भरकर उसे प्रसन्न करने का प्रयास करती है। ये अभियोग के अवसर पर विदूषक के पास प्राप्त होते हैं जो चारुदत्त को ही वसन्तसेना की हत्या का दोषी सिद्ध करने में प्रमाण स्वरूप मान लिये जाते हैं। यद्यपि मिट्टी और सुवर्ण की गाड़ी का कथानक बहुत छोटी-सी घटना प्रतीत होती है किन्तु वास्तव में यह नाटक में होने वाली प्रवहणविपर्यय वाली घटना का पूर्वाभासभी दर्शाती है। प्रवहण विपर्यय के कारण वसन्तसेना चारुदत्त के स्थान पर राजा के साले शकार के पास पहुँच जाती है और राजबन्दी (भावी सम्राट आर्यक) चारुदत्त का शरणागत बन जाता है। इसी प्रवहण विपर्यय के कारण वसन्तसेना की हत्या होती है तथा राजबन्दी आर्यक राजा पालक की हत्या कर चारुदत्त के प्राणों की रक्षा करता है। उज्जैनी के सम्पन्न चारुदत्त की दानशीलता के कारण ही उसका पुत्र मिट्टी की गाड़ी से खेलता है अन्यथा वह सुवर्ण की गाड़ी का अधिकारी था।

यह घटना समाज में फैली असन्तोष की भावना को बताती है। वसन्तसेना का कथन कि कितने दुःख की बात है कि यह बालक भी दूसरों की सम्पत्ति से दुःखी हो रहा है या यह भी कह जा सकता है कि पिता की दानशीलता के कारण उनका बालक आज मिट्टी की गाड़ी से खेलता है जो कभी सोने की गाड़ी का हकदार था। यह भाग्य की ही विडम्बना है।

हा धिक्, अयमपि नाम परसम्पत्त्या सन्तप्यते। भगवान्। कृतान्त। पुष्करपत्र पतित-जल-बिन्दु सदृशैः क्रीडसि त्वं पुरुषभागधेयै। जात। मा रुदिहि सौवर्णशकटिकया क्रीडिष्यसि। (मृच्छकटिक, 6 अंक)

बालक का मासूम सा प्रश्न कि यह मेरी माता नहीं हो सकती क्योंकि इन्होंने सोने के आभूषण पहने हैं। सरल-सा प्रश्न मानव हृदय को छू जाता है। निर्धन चारुदत्त का सम्पन्न वसन्तसेना को चाहना क्या उचित है? वसन्तसेना का शकार के स्थान पर चारुदत्त को चाहना तथा चारुदत्त का अपनी पत्नी धूता के अतिरिक्त गणिका के प्रति आसक्ति रखना। इस प्रकार प्राप्त वस्तु के प्रति उदासीनता तथा अप्राप्त वस्तु के खिन्नमना होना यही समाज में फैली असन्तोष की स्थिति नाटक में पुनः-पुनः दर्शायी गयी है।

'मृच्छकटिक' के अंकों के नाम अलंकार-न्यास, द्यूतकर-संवाहक, सन्धिच्छेद, मदनिका शार्विलक, दुर्दिन, प्रवहण-विपर्यय, आर्यकापहरण, वसन्त सेनामोटन, व्यवहार, उपसंहार से ही कथावस्तु स्पष्ट हो जाती है। 'कथावस्तु' में आरम्भ से अन्त तक गतिशीलता है। यह आदर्शवाद से हटकर यथार्थवाद का चित्रण करती है। इसमें पात्रों का चुनाव सभी वर्णों व कोटि से किया गया है। उनके चरित्र चित्रण में भी नाटककार ने जागरूकता दिखलायी है। उन्होंने मानव सुलभ गुणों व दोषों को स्वभाविक रूप में चित्रित किया है।

किसी भी कथा का विकास 'संवाद' तथा अभिनय व्यवहार द्वारा होता है। कथोपकथन के माध्यम से ही पात्रों के चरित्र का परिचय मिलता है। *'मृच्छकटिक'* के संवाद प्रायः संक्षिप्त, चुभते हुए सशक्त स्वाभाविक एवं पात्रानुकूल हैं। इन संवादों में लोकभाषा का माधुर्य है। इनमें अनेक सूक्तियों का प्रयोग किया गया है। ये संवाद काव्यत्व की दृष्टि से उच्चकोटि के हैं तथा इनमें शूद्रक की वाग्विदग्धता तथा व्यंग्य के दर्शन होते है।

रस-वर्णन

'मृच्छकटिक' प्रकरण का मुख्य रस शृंगार है। नाटक के पंचम अंक में वसन्तसेना अपने प्रिय चारुदत्त से मिलने वाटिका में आती है। चारुदत्त वसन्तसेना को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो जाते हैं तथा अपने प्रेम को प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि हे विशाल नेत्रों वाली प्रिया! मेरी प्रत्येक शाम तथा रात्रि आपके बिना व्यर्थ ही व्यतीत होती रहीं थी किन्तु आज आपके आगमन से मानो सारा विरह-ताप शान्त हो गया है।

सदा प्रदोषो मम याति जाग्रतः
सदा च मे निः श्वसतो गता निशा।
त्वया समेतस्य विशाललोचने!
ममाद्य शोकान्तकरः प्रदोषकः।।

रस की विभिन्न सामग्री से परिपुष्ट कर शृंगार का मनोरम चित्रण कवि द्वारा किया गया है। कवि ने उद्दीपन रूप वर्षा का विशद् एवं सुन्दर वर्णन किया है। कवि कहते हैं कि आकाश में उड़ते हुए ये मेघखण्ड अनेक प्रकार के आकार (रूप) बना रहे हैं। कभी ये मेघ के दो खण्ड आपस में ऐसे मिल जाते हैं जैसे चिरकाल से वियुक्त हुए चकवा-चकवी के समान मिल गये हो।

कभी ये गगन में उड़ते सारस—पंक्ति से प्रतीत होते हैं तो कभी समुद्र अथवा नदी में तैरते मगरमच्छ और मछलियों से लगते हैं। कभी नभमण्डल में महलों के चित्रफलक बनते हुए सुशोभित हो रहे हैं। इस वर्णन में चमत्कारोत्पादक अनेक सूक्तियों का समाहार दर्शनीय है।

कवि शूद्रक का हृदय वर्षाकाल की मनोहरता में इतना मग्न हो जाता है कि वे वर्णनात्मक कथानक विषय में मानो हट जाते हैं। कुछ पाश्चात्य आलोचकों ने इसे कथानक की गति में शिथिलता मानी है। शृंगार की कोमल कल्पनाएँ अतुलनीय है। प्रकरण में शृंगार तथा हास्य रस की अद्भुत संगति दिखायी गयी है। इसमें न केवल विदूषक द्वारा हास्य रस दर्शाया गया अपितु चारुदत्त, वसन्तसेना तथा अन्य पात्रों द्वारा भी वार्तालापों के मध्य हास्य रस का प्रयोग हुआ है। जीवन के संघर्ष, व्यथा, ग्लानि, मानसिक आघात, दुःख चिन्ता और विषाद को व्यक्त करते हुए करुण, बीभत्स, भय, अद्भुत रस को भी यथास्थान वर्णित किया है। शर्विलक और आर्यक के वार्तालाप में वीर रस की भी छलक मिलती है। प्रकरण के प्राकृतिक वर्णन की प्रमुख विशेषता उसमें निहित प्रकृति का मानवीकृत चित्र है। प्राकृतिक सौन्दर्य का सजीव एवं स्वच्छ चित्र देखते ही बनता है।

अशोक के समय पालि भाषा के कम से कम तीन स्वरूप प्रचलित थे। पूर्वी, पश्चिमी, और पश्चिमोत्तरी, इन्हीं बोलियों का विकास बाद में प्राकृतों के रूप में हुआ। मागधी और अर्द्धमागधी अशोककालीन पूर्वी बोली के, शोरसेनी पश्चिमी बोली के और पैशाची पश्चिमोत्तरी बोली के विकसित रूप हैं। प्रारम्भ में ये मात्र बोलियाँ थी, किन्तु साहित्य में प्रयुक्त होने पर इनका स्वरूप अवरूद्ध हो गया।

भरत मुनि ने सात प्राकृत भाषाओं का उल्लेख किया है। (1) मागधी, (2) अवन्तिजा, (3) प्राच्या, (4) शौरसेनी, (5) अर्द्धमागधी,

(6) वाहलीका, (7) दाक्षिणात्या बाद में वैयाकरण हेमचन्द्र (12वीं शताब्दी ई.) ने इनमें पैशाची और लाटी को ओर जोड दिया है।

साहित्य की दृष्टि से प्राकृतों में चार मुख्य हैं-मागधी, अर्द्धमागधी, शौर सेनी और महाराष्ट्री।

(1) शौरसेनी प्राकृत सूरसेन अर्थात् ब्रज-मंडल या माध्यमण्डल की भाषा थी। इसके प्राचीनतम रूप के दर्शन हमें अश्वघोष के नाटकों में होते हैं। भास और कालिदास के नाटकों में प्रायः इसी प्राकृत का प्रयोग मिलता है। भरत के 'नाट्य शास्त्र' (175) के अनुसार शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग संस्कृत नाटकों में नायिकाएँ और उनकी सखियाँ करती हैं।

(2) मागधी प्राकृत का विकास मगध की निकटवर्ती भाषा से हुआ। इसमें रचित कोई साहित्यिक रचना उपलब्ध नहीं होती है। संस्कृत के नाटकों में इसका प्रयोग निम्न श्रेणी के पात्रों द्वारा किया गया है। 'गौडी' इसका एक अन्य नाम है।

(3) अर्द्धमागधी मगध तथा शूरसेन प्रदेशों के मध्य (प्राचीन कोसल प्रदेश) की बोली से विकसित भाषा है। इसमें मागधी प्राकृत की भी कुछ प्रवृत्तियाँ मिलती है, अतः इसे अर्द्धमागधी कहा गया है। यह जैन सहित्य की प्रमुख भाषा रही है तथा साथ ही संस्कृत नाटकों—'मुद्राराक्षस' तथा 'प्रबोध चन्द्रोदय' में इसका प्रयोग मिलता है। आचार्य विश्वनाथ ने इसे चेट, राजपुत्रों और सेठों की भाषा कहा है।

(4) महाराष्ट्री प्राकृत का मूल आधार महाराष्ट्र प्रदेश हैं। इसमें प्रचुर श्वेताम्बर जैनियों के धार्मिक ग्रन्थों में हुआ है। कालिदास, हर्ष आदि के नाटकों में गाथा (छन्द) में इसी प्राकृत का प्रयोग हुआ है। महाराष्ट्री प्राकृत सभी प्राकृतों में एक परिनिष्ठित भाषा मानी जाती है। सभी वैयाकरणों ने इसी को आधार मान कर प्राकृतों के व्याकरण लिखे हैं।

जब प्राकृत भाषाओं को साहित्य में स्थान मिला, तो उनके व्याकरण भी लिखे गये। प्राकृत व्याकरणों में 'प्राकृत प्रकाश' वररुचिकृत है, जिसमें महाराष्ट्री पैशाची, मागधी तथा शौरसेनी प्राकृत पर विचार हुआ है। हेमचन्द्रकृत 'शब्दानुशासन' संस्कृत तथा अपभ्रंश पर विचार किया गया है। मार्कण्डेय के 'प्राकृत सर्वस्व' में भाषा, विभाषा तथा अपभ्रंश पर विचार हुआ है। साहित्य में संस्कृत और प्राकृत के भेद से विभिन्न भाषाओं का प्रयोग होता है। इस दृष्टि से (प्राकृत के प्रयोग) संस्कृत के अन्य नाटकों की अपेक्षा *'मृच्छकटिक'* का अपना अलग ही महत्त्व है। नाट्य-साहित्य में निर्दिष्ट प्राकृत भाषाओं में जितनी भाषाएँ इनके पात्रों के भाषणों में उपलब्ध होती हैं उतनी संस्कृत के अन्य किसी नाटक में नहीं प्राप्त होती हैं *'मृच्छकटिक'* में प्राकृत भाषा के अन्तर्गत शौरसेनी, अवन्तिका, प्राच्या और मागधी का प्रयोग किया गया है। अपभ्रंश भाषाओं के अन्तर्गत इसमें शकारी, चाण्डाली और ढक्की का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार *'मृच्छकटिक'* में संस्कृत के अतिरिक्त चार प्राकृत और तीन अपभ्रंश—कुल सात भाषाओं का प्रयोग किया गया है।

नाटक के प्रारम्भ में सूत्रधार के कथन "एषोऽस्मि भोः। कार्य्यवशात् प्रयोगवशाच्च प्राकृतभाषी संवृत्तः" अर्थात् प्रयोग सरलता की दृष्टि से कारणवश मैं भी अब प्राकृत बोली ही बोलता हूँ। इस बात का प्रमाण है कि जन सामान्य में प्रचलित भाषा प्रयोग से नाटक में प्रवाहशीलता व रसमयता बनी रहती है और प्रजा (जनसाधारण) भी आनन्द विभोर होते हैं।

'मृच्छकटिक' की विवृत्ति के लेखक पृथ्वीधर के अनुसार इस नाटक में शौरसेनी बोलने वाले ग्यारह पात्र हैं—जैसे सूत्रधार, नटी, रदनिका, मदनिका, वसन्तसेना, वृद्धामाता, चेटी, द्यूता कर्णपूरक, शोधनक, श्रेष्ठी आदि।

प्रथम अंक में सूत्रधार ने संस्कृत के प्रविशामि के स्थान पर शौरसेनी में प्राविसामी का प्रयोजन किया है। नटी के कथन में 'मर्षतुः मर्षत्वार्यः' संस्कृत के स्थान पर 'मरिसेदु मारिसेदु अज्जो' का प्रयोग है।

(1) इस प्राकृत में श, ष, स के स्थान पर 'स' ही होती है।

(2) दो स्वरों के मध्यवर्ती संस्कृत 'त्' > 'द' तथा 'थ > ध' हो जाता है उदाहरणार्थ भवति > होदि कथय > कथोहि

(3) अवन्तिका बोलने वाले पात्र - मृच्छकटिक में इस प्राकृत के बोलने वाले दो पुलिस (सिपाही) वीरक और चन्दनक हैं। यह प्राकृत रेफवती एवं लोकोक्ति बहुला मानी गयी है।

'मृच्छकटिक' के षष्ठ अंक में वीरक और चन्दनक के सम्भाषण में स्पष्ट होती है—

(1) **वीरकः—अरे चन्दणआ**
जाणामि चारुदत्तं वसन्तसेणं अ सुट्ठु जाणामि।
पत्ते अ राअकज्जे पिदरं पि अहं ण जाणामि।।
संस्कृत-जानामि चारुदत्तं वसन्तसेनाञ्च सुष्ठु जानामि।
प्राप्ते च राजकार्ये पितरमपि अहं न जानामि।।

(2) **चन्दनकः-अहवा ण भाणामि (अथवा न भणामि) जाणन्ती बि हु जादि तुज्झ अ ण भणामि सील-विहवेण चिट्ठउ महच्चिअ मणे किं हि कइत्थेण भग्गेण।।**
जानन्नपि खुलु जातिं तव च न भाणामि शील-विभवेन

(3) **किं तुए सुगअ - सरिसेण?** **(किं त्वया शुनकसदृशेन)**
इसके अतिरिक्त अवन्तिका प्राकृत में 'र' के स्थान पर 'ल' का प्रयोग देखने को मिलता है।
वीरकः-'ए सो पवहण भणादि अज्जचालुदत्तरश पवहणं, वशन्तशेणा आलूढा, पुप्फकरण्डअं जिण्णुज्जाणं णीअदित्ति। एष प्रवहणवाहको भणति-आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणम्, वसन्तसेना आरुढ़ा पुष्पकखण्डकं जीर्णोद्यानं नीयते इति।

(4) प्राच्या- प्राच्या बोलने वाले पात्र केवल विदूषक ही है। इस प्राकृत में श, ष, स के स्थान पर 'स' ही प्रयोग किया जाता है। और पृथ्वीधर के अनुसार स्वार्थिक ककार की प्रचुरता होती है। किन्तु मृच्छकटिक में विदूषक के भाषणों में यह विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती है।

प्रथम अंक में विदूषक के कथन से प्राच्या प्राकृत की विशेषता स्पष्ट देखी जा सकती है।

विदूषक—'ऐसा ससुवण्णा साहिलण्णा णवणाड अदंसणुट्ठिदा सूत्तधालि व्व वसन्त सेणा णाम गणिआदालिआ कामदेवाअदणुज्जाणादो पहुदि तुमं अणुलत्ता, अम्हेहिं बलक्कालागुणी अमाणा तुह गेहं प्रविष्ठा?

संस्कृत-एषां ससुवर्णा साहिरण्या नवनाटकदर्शनोत्थिया सूत्रधारीव वसन्तसेनानाम्नी गणिकादारिका कामदेवायतनो धानात्प्रभृति त्वामनुरक्ताऽस्माभिर्बलात्कारानुनीमाना तव गेहं प्रविष्टा।

(5) मागधी-संवाहक, शाकार वसन्तसेना और चारुदत्त के तीनों चेट (स्थावरक, कुम्भीलक और वर्धमानक) चारुदत्त का पुत्र रोहसेन-ये छह पात्र मागधी प्राकृत बोलते हैं। इस प्राकृत में श् ष,

स के स्थान पर तालव्य शकार का प्रयोग होता है। प्रथम अंक में शकार के चेट का कथन–

ऐशे भट्टाल के गेणहदु णं भट्टके अशि।'

एषः भट्टारकः। गृह्णतु एवं भट्टारकः असिम्।

एषः के स्थान पर एशे तथा असिम् के स्थान पर अशिम् का प्रयोग किया गया है।

(1) इसके अतिरिक्त अष्टम अंक जूलिदोषः के स्थान पर **घूलीदोशे, प्रसार्य झ पशलिअ**।

(2) मगधी में 'र' के स्थान पर 'ल' **प्रसारयिष्यामि** > पशालइश्शम्।

(6) शकारी अपभ्रंश–इसका प्रयोग शकार ने किया है। इसमें तालव्य शकार अधिक प्रयुक्त होता है। 'र' के स्थान पर 'ल' का प्रयोग भी इसकी विशेषता है। शकारी में ऊटपटांग उक्तियों की बहुलता है।

प्रकाशयिष्यति	>	पआशइश्शदि
आर्यपुत्रः	>	अज्जपुलिशे
सार्थवाहः	>	शत्थवाह

प्रथम अंक में शकर की उक्ति–''**भावे! भावे! मणुरशे मणुरशे भाव! भाव! मनुष्यो मनुष्यः।**

(7) चाण्डाली अपभ्रंश–चाण्डाली अपभ्रंश का प्रयोग दोनों चाण्डालों ने दशम अंक में किया है। इसमें श, ष, स के स्थान पर तालव्य 'श' का प्रयोग तथा 'र' के स्थान पर 'ल' का प्रयोग किया गया है। चाण्डाल की उक्ति–''**अज्ज चालुदत्त लाअणिओओ क्खु अवलज्झदि, ण क्खु अम्हे चाण्डाला ता शुमलेहि जं शुमलिदव्वं।'' आर्यचारुदत्त। राजनियोगः खलु अपराध्यति, न खलु वयं चाण्डालाः। तत् स्मर यत् स्मर्त्तव्यम्॥** से इसकी विशेषता स्पष्ट हो जाती हैं।

(8) ढक्की अपभ्रंश–इस भाषा का प्रयोग द्यूतकर और माथुर करते हैं। पृथ्वीधर टीकाकार के अनुसार इसमें वकार की प्रचुरता होती है। इसके अतिरिक्त संस्कृत प्रायः होने पर इसमें श, स दोनों ही होते हैं।

वकारप्राया ढक्कविभाषा। संस्कृत प्रायत्वे दन्त्य तालव्यशकारद्वय-युक्ता च।

मृच्छकटिक की ढक्की उकारप्राया है। शब्दों के अन्त में प्रायः उकार आता है।

माथुर की उक्ति–**अले भट्टा। दश सुवण्णाह लुद्ध जूद अरु पपलीणु पपलीणु अरे भट्टारक। दशसुवर्णस्य रुद्धो द्यूतकरः प्रपलायितः**

'मृच्छकटिक' में कवि का वर्णन–सौष्ठव दर्शनीय है। इसमें कहीं द्ररिद्रावस्था का चित्रण है, कहीं वसन्तसेना की कुबेर जैसी सम्पदाओं का वर्णन, कहीं सेंध का स्वरूप एवं भेदों का विवेचन, कहीं द्यूतकर्म का विशद विश्लेषण और कहीं मानव मन का रूपाकंन किया है। कवि शूद्रक का सूक्ष्म निरीक्षण सर्वत्र दर्शनीय है। मृच्छकटिक की कथा अत्यन्त रोचक एवं आकर्षक है इसमें क्रिया व्यापार की गति शीलता है जो इसे अभिनेयता के योग्य बनाती है।

मृच्छकटिक पर गिरीश कर्नाड के निर्देशन में 'उत्सव' नाम फिल्म की रचना भी हो चुकी है। संस्कृत नाटकों में दुःखान्त नाटकों के लिए कोई स्थान नहीं है। शूद्रक ने भी इसी परिपाटी का निर्वाह *'मृच्छकटिक'* में किया है। अतः *'मृच्छकटिक'* में आशावादिता का सन्देश सर्वत्र दिखायी देता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सांस्कृतिक मूल्यांकन के लिए मृच्छकटिक महत्त्वपूर्ण प्रकरण है।

नाटकीय विधान की दृष्टि से *'मृच्छकटिक'* अत्यन्त मनोरंजक है किन्तु समीक्षकों की दृष्टि में इस प्रकरण में कार्यान्विति का अभाव प्रतीत होता है।

राजा पालक की राजनीतिक कथा एवं चारुदत्त की प्रणय कथा परस्पर विरोधी एवं असंगत-सी लगती है। अधिकांश समीक्षकों ने इसे सुनियोजित एवं अविच्छेद्य अंग माना है। रंगमंच की दृष्टि से भी यह नाटक सदोष प्रतीत होता है क्योंकि इसमें दस अंक है, जो विस्तार लिये हुये हैं। ऐसी स्थिति में इसका अभिनय एवं मंचन असम्भव सा प्रतीत होता है। मंचीय दृष्टि से डॉ. भोलाशंकर जी कहते हैं कि *'मृच्छकटिक'* के प्रत्येक अंक में केवल एक ही दृश्य नहीं है अपितु अनेक दृश्यों का समावेश है। *'मृच्छकटिक'* के प्रथम अंक में ही एक साथ कई दृश्य हैं जैसे चारुदत्त का घर तथा राजमार्ग पर वसन्तसेना का पीछा करते हुए शकार का दृश्य। इसको मंचित करते हुए अवश्य ही असुविधा होगी। इसी कारण रंगमंच की दृष्टि से यह सदोष प्रतीत होता है। *'मृच्छकटिक'* प्रकरण के गहन अध्ययन से हमें तत्कालीन सामाजिक जीवन की पृष्ठभूमि पर शूद्रक की बहुरंगी भारतीय संस्कृति के प्रभावशाली चित्रों को जानने का अवसर प्राप्त होता है जो वर्तमान तथा भविष्य के लिए आज भी जीवन्त सन्देश प्रदान करते हैं।

'मृच्छकटिक' की शैली नितान्त सरल एवं आकर्षक है। नवीन भावों की उद्भावना, अद्भुत कल्पनाओं का सामंजस्य, भाषा की सुकुमारता, चित्रात्मकता तथा लाक्षणिकता का विधान कवि का लोकप्रियता का कारण रही है।

संदर्भ

1. नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनामिति रूपकाणि दश।। –साहित्यदर्पण, 6-3

2. भवेत् प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम्।
शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक।
सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः।।
नायिका कुलजा, क्वापि वेश्या क्वापि द्वयम्।
तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्र भेदतृतीयकः।
कितवद्यूतकादादिविटेचेटकसङ्कुलः। –साहित्यदर्पण, 6.224-226

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मृच्छकटिक, शूद्रक, जगदीशचन्द्र मिश्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1991
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय
3. संस्कृत साहित्तय का इतिहास, डॉ. कीथ
4. साहित्य दर्पण, विश्वनाथ,
5. दशरूपक, धनंजय,
6. काव्यादर्श, आचार्य दण्डी व्या श्रीशिवनारायण शास्त्री, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1994
7. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास कपिलदेव द्विवेदी, रामनारायण विजयकुमार, इलाहाबाद
8. भाषाविज्ञान, कर्णसिंह साहित्य भण्डार मेरठ, 1983
9. भाषाविज्ञान, भोलानाथतिवारी
10. संस्कृत रूपकों के नायक नाट्यशास्त्रीय विमर्श, राजदेव मिश्र।

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
दौलत राम कॉलेज

भारतेंदु की नाट्य दृष्टि में लेखन और मंचन का स्वरूप

आरती

सारांश–भारतेंदु हरिश्चंद्र आधुनिक हिन्दी के पहले साहित्यशास्त्री, आचार्य और आलोचक हैं। उन्होंने सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना का सूत्रपात किया। साथ ही वे स्वयं प्रयोगधर्मी नाटककार थे। उन्होंने न सिर्फ़ नाटकों की रचना की बल्कि नाटक संबंधी 'नाटक अथवा दृश्यकाव्य सिद्धांत विवेचन' शीर्षक पुस्तक में अपने नाट्य साहित्य सिद्धांतों को उजागर किया। उन्होंने इस बात पर गहराई से चिंतन किया कि नाटक का लेखन और मंचन क्यों किया जाना चाहिए? नाट्य-परंपरा के विकास के लिए किस परंपरा का अनुपालन किया जाना चाहिए? इन्हीं बिन्दुओं को केन्द्र में रखकर शोध प्रपत्र में भारतेंदु की नाट्य दृष्टि में लेखन और मंचन के स्वरूप को समझने का प्रयास किया जाएगा।

बीज शब्द–नाटक, दृश्य, नृत्य, नृत्त, तांडव, लास्य, समाज-संस्कार, देशवत्सलता, मंचन।

मुख्य आलेख–भारतेंदु हरिश्चंद्र हिन्दी नवजागरण के पुरोधा थे। वे नाटक सहित समस्त साहित्य और लोकसाहित्य का प्रयोग बूढ़े भारत की सोई हुई चेतना को जगाने के लिए करना चाहते थे। एक शास्त्रकार या नाट्यकार के रूप में भी उनकी यह मौलिक दृष्टि निरंतर सक्रिय दिखाई देती है। इसीलिए उन्होंने देशकाल के अनुरूप हिन्दी नाटक के लिए उपादेय सिद्धांत स्थिर करने का प्रयास किया। इन सिद्धांतों को संस्कृत और अंग्रेजी दोनों के नाट्यग्रंथों के आधार पर तैयार किया गया है। उन्होंने 'उपक्रम' में यह भी सूचना दी है कि इसके लिखित विषय 'दशरूपक', 'भारतीय नाट्यशास्त्र', 'साहित्यदर्पण', 'काव्यप्रकाश', 'विल्सन्स हिंदू थियेटर्स', 'लाइफ ऑफ द एमिनेंट पर्सन्स', 'ड्रमेटिस्टस एंड नोवेलिस्ट्स', 'हिस्ट्री ऑफ द इटालिक थियेटर्स' और 'आर्यदर्शन' से लिए गये हैं, और उन्होंने यह आशा भी जताई है कि हिन्दी भाषा में नाटक बनाने वालों के लिए यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा।

इस नाटक पुस्तक का विवेचन भारतेन्दु ने नाटक के अर्थ और प्रकारों की चर्चा के साथ आरंभ किया है। अत्यंत सरल भाषा में पारिभाषित करते हुए वे कहते हैं कि "नाटक शब्द का अर्थ है नट लोगों की क्रिया।"[1] इसी प्रकार "दृश्य काव्य वह है जो कवि की वाणी को उसके हृदयगत आशय और हावभाव सहित प्रत्यक्ष दिखला दे।"[2] आगे वे बताते हैं कि "प्राचीन समय में अभिनय, नाट्य, नृत्य, नृत्त, तांडव और लास्य इन पाँच भेदों में बँटा हुआ था। इनमें नृत्य भावसहित नाचने को, नृत्त केवल नाचने को और तांडव और लास्य भी एक प्रकार के नाचने ही को कहते हैं। इनमें नाट्य में नाटक का समावेश है। उन्होंने 'काव्य के सर्वगुण संयुक्त खेल' को नाटक कहा है।"[3]

नाटक के संदर्भ में भारतेंदु भरतमुनि-प्रोक्त प्रकारों से संतुष्ट नहीं दिखाई देते और नवीन भेद प्रस्तावित करते हैं। वे यूरोप और बंगदेश के प्रभाव से हिन्दी में रचे जा रहे अपने समकालीन नाटकों को ध्यान में रखते हुए नवीन नाटकों के दो भेद 'नाटक और गीतिरूपक' बताते हैं। जिनमें कथा भाग विशेष और गीति न्यून हों वह नाटक है, और जिसमें गीति विशेष हों वह गीतिरूपक है। फिर इनके भी भेद 'संयोगांत, वियोगांत और मिश्र' बताते हैं। 'संयोगांत' अर्थात् प्राचीन नाटकों की भांति जिसकी कथा संयोग पर समाप्त हो। 'वियोगांत' जिसकी कथा अंत में नायिका वा नायक के मरण वा और किसी आपद घटना पर समाप्त हो। (उदाहरण 'रणधीर प्रेममोहिनी') और तीसरा 'मिश्र' अर्थात् जिसके अंत में कुछ लोगों का तो प्राणवियोग हो और कुछ सुख पावें।

अतः भारतेंदु ने यह लक्षित किया कि प्राचीन नाटकों की अपेक्षा नवीन नाटकों की परम मुख्यता बारंबार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक अंक में अनेक अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है क्योंकि इस समय में नाटक के खेलों के साथ विविध दृश्यों का दिखलाना भी आवश्यक समझा गया है।

इन्होंने नवीन नाटकों की रचना के पाँच प्रयोजन निर्धारित किये जिसमें 1. शृंगार, 2. हास्य, 3. कौतुक, 4. समाजसंस्कार और 5. देशवत्सलता है, और इन प्रयोजनों को उन्हें स्वयं अपने नाटकों में भी चरितार्थ करके दिखाया। कहना न होगा कि इनमें अंतिम दो प्रयोजन भारतेंदु की देशकाल-सापेक्ष प्रतिभा की मौलिक देन हैं। वे स्पष्ट करते हैं कि "समाज संस्कार के नाटकों में देश की कुरीतियों का दिखलाना मुख्य कर्तव्य कर्म है। यथा शिक्षा की उन्नति विवाह सम्बन्धी कुरीति निवारण अथवा धर्म सम्बन्धी अन्यान्य विषयों में संशोधन इत्यादि। किसी प्राचीन कथाभाग का इस बुद्धि से संगठन कि देश की उससे कुछ उन्नति हो, इसी प्रकार के अंतर्गत है। (इसके उदाहरण सावित्री चरित्र, दुःखिनीबाला, बाल्यविवाहविद्यक, जैसा काम वैसा ही परिणाम, जय नारसिंह की, चक्षुदान इत्यादि।) देशवत्सल नाटकों का उद्देश्य पढ़ने वालों वा देखने वालों के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है।"[4] दरअसल समाज संस्कार और देशवत्सलता ही भारतेंदु और उनके युग के साहित्य को समझने की कुंजी है।

'नाटक' में आगे भारतेंदु ने नाटक रचना पर प्रकाश डालते हुए निरंतर सामाजिक (दर्शक/ पाठक) को केंद्र में रखा है। अंततः रचना का उद्देश्य उसे ही तो संस्कारित करना है। भारतेंदु सामाजिकों की रुचि के परिवर्तन को लक्षित करते हैं और चाहते हैं कि नाटक की रीति में भी तदनुकूल परिवर्तन हो। एक बड़ा काम उन्होंने यह किया कि नाटक को सामाजिक यथार्थ के साथ जोड़ा। वे चाहते थे कि आज के नाटक में 'लोकातीत असंभव कार्य की अवतारणा' से गुरेज किया जाए तथा 'अस्वाभाविक सामग्री' और 'अलौकिक विषय' के स्थान पर स्वाभाविक रचना की जाए। स्पष्ट है कि वे नाट्यवस्तु के लौकिक संभाव्य और यथार्थपरक होने की माँग कर रहे थे। नाट्य लेखन और प्रस्तुतीकरण की रूढ़ियों को भी उन्होंने तोड़ा। "अब नाटक में आशीः

प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं 'प्रकरी', कहीं 'विलोभन', कहीं 'सम्फेट', 'पंचसंधि', वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं बाकि रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में इनका अनुसंधान करना, वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है।"[5]

आगे प्रतिकृति (scenes), जवनिका (drop scene), प्रस्तावना और उसके भेद, वृत्ति, उद्देश्यबीज, वस्तु, अभिनय आदि की चर्चा के उपरांत नाटक में निषिद्ध विषयों (विरोधक) की भी चर्चा की गई है। नायक-नायिका के गुणों के बाद परिच्छेद विवेक अर्थात् वेश औचित्य का उल्लेख है। नाटक रचना प्रणाली की सोदाहरण व्याख्या की गई है। कालिदास, भवभूति और शेक्सपियर की श्रेष्ठता की चर्चा भी यहाँ है। भारतेंदु ने इन नाटककारों की कालजयी कीर्ति का आधार 'मनुष्य प्रकृति' की इनकी समझ को माना है। और नाटककार को यह परामर्श दिया है कि "मानवप्रकृति की समालोचना करनी हो तो नाना प्रकार के लोगों के साथ कुछ दिन वास करै। तथा नाना प्रकार के समाज में गमन करके विविध लोगों का आलाप सुनै तथा नाना प्रकार के ग्रंथ अध्ययन करै, वरंच समय में अश्वरक्षक, गोरक्षक, दास, दासी, ग्रामीण, दस्यु प्रभृति नीच प्रकृति और सामान्य लोगों के साथ कथोपकथन करै। यह न करने से मानवप्रकृति समालोचित नहीं होती। मनुष्य लोगों की मानसिक वृत्ति परस्पर जिस प्रकार अदृश्य है उन लोगों के हृदयस्थभाव भी उसी रूप अप्रत्यक्ष हैं। केवल बुद्धि वृत्ति की परिचालना द्वारा तथा जगत के कतिपय बाह्य कार्य पर सूक्ष्म दृष्टि रखकर उसके अनुशीलन में प्रवृत्त होना होता है, और किसी उपकरण द्वारा नाटक लिखना झख मारना है। राजनीति, धर्मनीति, आन्वीक्षिकी, दंडनीति, संधि, विग्रह प्रभृति राजगुण, मंत्रणा चातुरी, आद्य, करुणा प्रभृति रस, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव तथा सात्विक भाव तथा व्यय, वृद्धि, स्थान प्रभृति त्रिवर्ग की समालोचना में सम्यक रूप समर्थ हो। तब नाटक लिखने को लेखनी धारण करें।"[6]

आगे रस वर्णन किया गया है। इस संबंध में यह विचारणीय है कि भारतेंदु ने भरत- प्रणीत रसों के अतिरिक्त भक्ति, संख्य, वात्सल्य और आनंद ये चार रस और माने हैं। जिसका उल्लेख 'कविवचन सुधा' में प्रकाशित एक पत्र में मिलता है। पत्र में भारतेंदु ने नये रसों की संकल्पना को स्वीकार न करने वालों की आलोचना करते हुए इन चारों नये रसों का अलग-अलग स्थापन किया है। इसके अलावा 'नाटक' में रस विरोध पर विचार करते हुए करुणा और शृंगार के संबंध की भी चर्चा की गई है।

इन स्फुट विषयों के अलावा भारतेंदु जी यह भी मानते थे कि आजकल की सभ्यता के अनुसार नाटक रचना में उद्देश्यफल उत्तम निकलना आवश्यक है। जैसे सत्यहरिश्चन्द्र देखने से आर्यजाति की सत्य प्रतिज्ञा, नीलदेवी से देशस्नेह इत्यादि शिक्षा निकलती है। अर्थात् इसका अर्थ है कि वे नाटक का उपयोग समकालीन संदर्भ में लोकशिक्षा के लिए करना चाहते थे। जिसमें नाटक की कथा, पात्रों के स्वर, पात्रों की दृष्टि, पात्रों के भाव, पात्रों का फिरना और पात्रों का परस्पर कथोपकथन संबंधी नियम भी एक कुशल नाट्य निर्देशक की तरह भारतेंदु ने निर्धारित किये हैं।

जैसाकि, प्रारंभ में ही कहानी के मध्य या अंत का बोध न हो, और मंचन के स्तर पर, पात्रों के स्वर आरोह-अवरोह भाव के अनुरूप हो। तथा पात्र दर्शकों की ओर देखकर संवाद बोले किन्तु यह बोध न हो कि वह वे बातें दर्शकों से कह रहा है। नृत्य की भांति 'रंगस्थल पर पात्रों को हस्तक भाव वा मुख नेत्र भ्रू के सूक्ष्मतर भाव दिखलाने की आवश्यकता नहीं स्वर भाव और यथायोग्य स्थान पर अंगभंगी भाव ही दिखलाने चाहिए। (अर्थात् नाटक में नृत्य की भाँति मुद्राओं और भंगिमाओं का प्रयोग अस्वाभाविक है, अतः स्वाभाविक देहभाषा ही स्वीकार्य है) और यथासंभव हो सके तो मंच पर प्रवेश और निकासी के दौरान दर्शकों की ओर पीठ कम से कम न के बराबर ही हो। संवादों में काव्यत्व के स्थान पर हृदय के भावबोधक वाक्यों का प्रयोग ही उचित है। कहना न होगा कि ये नियम नाटक को जनपदसुखबोध्य बनाने के साथ साथ उसे सामाजिकों को संबोधित करने का सशक्त माध्यम भी बनाने की दृष्टि से निर्धारित किये गये हैं। इस प्रकार नाटक संबंधी भारतेंदु के इस विवेचन को उनके एक और छोटे से आलेख के साथ जोड़कर देखा जाए तो समाजसंस्कार तथा देशवत्सलता की उनकी धारणा और अधिक स्पष्ट हो सकती है।

इन्हीं प्रयोजनों पर बारीकी से चर्चा भारतेन्दु ने अपने निबंध 'जातीय संगीत' शीर्षक लेख में किया है। जिसमें भारतेंदु की लोकव्यापी दृष्टि और सामान्य जन से उनके लगाव का पता चलता है। हमारे यहाँ सबसे पहले ग्रामगीतों का महत्त्व शायद भारतेंदु हरिश्चंद्र ने ही समझा था। वे लोकगीतों को समाजसंस्कार के लिए इस्तेमाल करने की वकालत करते थे। उनके नाटकों में लोकशैली का प्रयोग उनकी इसी मान्यता का परिणाम है। वे बड़े-बड़े लेखों और काव्यों की तुलना में लोकगीतों और ग्रामगीतों को भारतीय जनता से जुड़ने का सबसे सार्थक माध्यम मानते थे। इस व्यापक लोक-माध्यम को ही उन्होंने 'जातीय संगीत' की संज्ञा दी। वे चाहते थे कि इस माध्यम का उपयोग अर्धशिक्षितों और अशिक्षितों तक समाजसंस्कार और देशवत्सलता के संदेश को पहुँचाने के लिए किया जाए। एक यथार्थवादी समाज चेतना देशवत्सल सिद्धांतकार के रूप में उन्होंने 'जातीय संगीत' का उपयोग करने के लिए ऐसे विषयों पर नाटक, उपन्यास या काव्य रचना का आग्रह किया जो जनता के जागरण का हेतु बन सकें। बड़ी रचनाओं की तुलना में उन्होंने छोटे छोटे 'सरल देशभाषा' रचित गीतों और छंदों को प्राथमिकता दी है।

इसके बाद भारतेंदु ने नाटकों के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए 'भाषा नाटक' शीर्षक खंड में आरंभिक हिन्दी नाटकों पर चर्चा के अंतर्गत यूरोप में नाटकों के प्रचार पर भी टिप्पणी की है।

'नाटक' निबंध के माध्यम से भारतेंदु की नाट्य दृष्टि का पता चलता है कि उनके लिए आदर्श संस्कृत, यूरोप और बांग्ला का रंगमंच था। जिसे हम उनके द्वारा अनुवादित नाटकों की सूची में भी देख सकते हैं। उन्होंने इन्हीं आदर्शो की स्थापना करते हुए हिन्दी का आधुनिक रंगमंच विकसित करने की मुहिम चलाई। उनके व्यक्तिगत प्रयास ने कई लोगों को नाटक लिखने और खेलने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार उनके इर्द गिर्द एक घेरा बन गया जिसे भारतेंदु मंडल के नाम जाना जाता है। इस युग के रंगमंच का प्रमुख उद्देश्य सामाजिक, राजनीतिक दशा का यथार्थ अंकित करके सर्वसाधारण को जागरूक बनाना था। भारतेंदु के नाटकों में से ही एक उदाहरण लें तो 'अंधेर

नगरी' में वे पतनशील भारतीय समाज का चित्रण करते हुए नज़र आते हैं। भारतेंदु अपने नाटकों के ज़रिये जनता को जागरूक करते हुए एक नवीन समाज के निर्माण की चेतना तैयार करना चाहते थे। उनकी प्रेरणा से लिख रहे उनके मंडल के नाटककारों ने भी राष्ट्रवादी और समाज सुधार की चेतना से युक्त लेखन किया है और भारतेंदु के स्वर में स्वर मिलाया है। भारतेन्दु के नाटकों का मूल आधार देश-प्रेम है। वे खुद अभिनेता, रंगकर्मी और समीक्षक थे। इसलिए नाटक में दृश्यात्मक और काव्यत्व को उन्होंने सबसे अधिक महत्त्व दिया और नाट्य रस निष्पत्ति प्रक्रिया को पूर्ण करने के लिए सही मंचन के दिशा-निर्देश के सिद्धांत स्थापित किये। साथ ही उन्होंनें नाट्य लेखन का मूल उद्देश्य मनोरंजन के साथ जनमानस में आत्मविश्वास उत्पन्न करके जाग्रत करने का संदेश दिया।

संदर्भ सूची

1. संपादक हेमंत शर्मा, 1987, भारतेंदु समग्र, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, पृष्ठ 556
2. वही, पृष्ठ 556
3. वही, पृष्ठ 557
4. वही, पृष्ठ 559
5. वही, पृष्ठ 559
6. वही, पृष्ठ 566-567
7. वही, पृष्ठ 1028

सहायक ग्रंथ सूची

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, 2021, हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली
2. रामविलास शर्मा, 2004, भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
3. डॉ. दशरथ ओझा, 2013, हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, राजपाल एंड संस प्रकाशन, नई दिल्ली
4. नेमिचन्द्र जैन, 2008, रंग दर्शन, राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

शोधार्थी, हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय

●

इंटरनेट से साभार

प्रसाद की नाट्यालोचना दृष्टि

बरखा लोहिया

बीज शब्द : नाटक, रंगमंच, आलोचना, इतिहास, संस्कृति, परंपरा

शोध सार : 'जयशंकर प्रसाद' हिन्दी साहित्य का एक ऐसा व्यक्तित्व है जिससे कोई विरला हिन्दी पाठक ही अपरिचित होगा। प्रसाद ने हिन्दी साहित्य की गद्य और पद्य दोनों विधाओं में लेखनी चलाई। वे कवि, उपन्यासकार, कहानीकार और नाटककार के रूप में प्रसिद्ध रहे। सबसे अधिक ख्याति उन्हें कवि और नाटककार के रूप में मिली। प्रसाद ने जिस प्रकार नाटकों का विषय भारतीय संस्कृति इतिहास, परंपरा, राष्ट्रीयता और देश प्रेम की भावना को बनाया शायद ही हिन्दी के किसी अन्य लेखक ने भारतीय संस्कृति, परंपरा, समृद्धि, शक्ति और औदात्य का ऐसा भास्वर रूप प्रस्तुत किया। "प्रसाद ने भारतीय साहित्य के गौरवपूर्ण युगों को अपने नाटकों का आधार बनाया है, उन्होंने वैदिक काल से लेकर गुप्तकाल और मौर्यकाल तक ही अपने को परिसीमित रखा।"[1] प्रसाद ने जिस समय हिन्दी साहित्य लेखन में कदम रखा उस समय हिन्दी साहित्य पर पारसी, अंग्रेज़ी, संस्कृत और बांग्ला भाषा के साहित्य और रंगमंच का प्रभाव था। 1861 ईस्वी में राजा लक्ष्मण सिंह ने संस्कृत से 'शकुंतला' का अनुवाद किया। 'मालती माधव' का अनुवाद लाला सीताराम द्वारा किया गया। शेक्सपियर के नाटक 'मर्चेंट ऑफ़ वेनिस' का अनुवाद स्वयं भारतेंदु द्वारा किया गया तथा रतनचंद्र द्वारा 'कॉमेडी ऑफ़ एरर' का अनुवाद 'ब्रह्मजालक' नाम से किया गया। ''प्रसाद के नाट्यरचना काल के समय उन्हें केवल पारसी थिएटर ही सामने दिखाई दिया जिसकी 'फूहड़' 'भड़ैत' से उनकी श्रेष्ठ एवं परिष्कृत थिएटर साहित्यिक अभिरुचि का कोई तालमेल नहीं बैठता था।"[2] प्रसाद को यह पाश्चात्य रंगमंच परंपरा व अनुवाद रास नहीं आया तथा उन्होंने स्वयं हिन्दी रंगमंच कि लिए कार्य करना प्रारंभ किया और हिन्दी साहित्य रंगमंच को मौलिकता प्रदान की।

भरतमुनि के अनुसार–

''न तज्ज्ञानम न तच्छिलपम न सा विद्या न सा कला।
न सौ योगो न तत्कर्म नाट्येसमिन यन्न दृश्यते।।''

अर्थात् लौकिक, व्यावहारिक जीवन का सामाजिक, धार्मिक कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं है जो नाटक से संप्रेषित ना होता हो क्योंकि नाटक सार्ववर्णिक कला माना गया है। नाट्य सृजन के लिए आवश्यक होता है कि सभी वर्णों के लोगों को उपयुक्त ज्ञान दिया जा सके तथा उसे रंजित किया किया जा सके। ''नाटक एक त्रिआयात्मक विधा है जिसमें नाट्यकृति, प्रस्तुतीकरण एवं सामाजिक (प्रेक्षक) तीनों का समन्वय नाटकीय स्वतंत्रता के लिए अपेक्षित है।"[3] प्रसाद ने हिन्दी नाटकों को नया आयाम दिया। नयी भाषा, शैली, अभिनय और पात्रों को नये विचारों से प्रस्तुत किया। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की ये काव्य पंक्तियाँ प्रसाद पर बिलकुल सटीक बैठती हैं–

"लीक पर वे चलें जिनके
चरण दुर्बल और हारें हैं,
हमें तो जो हमारी यात्रा से बने
ऐसे अनिर्मित पंथ प्यारे हैं।''

प्रसाद ने नाटकों की रचना के साथ-साथ नाटक विधा या रंगमंचीय प्रस्तुति संबंधी विचार भी प्रस्तुत किये जिससे उनके नाट्य साहित्य संबंधी विचारों को समझने में मदद मिलती है।

प्रसाद की मान्यता थी कि नाटककार को भारतीय नाट्य परंपरा तथा पाश्चात्य नाट्य परंपरा दोनों को अपनी रंगमंचीय अभिव्यक्ति के लिए समन्वय करना चाहिए। "प्रसाद ने न तो प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र से अपने को अलग किया और न ही पाश्चात्य नाट्य विधियों का अंधानुकरण किया, दोनों का उचित सामंजस्य उनकी नाट्यकला की प्रमुख विशेषता रही।"[4] भारतीय नाट्य परंपरा के नान्दी पाठ, पूर्व रंग प्रस्तावना व पाश्चात्य परंपरा के अंतर्द्वन्द्व व बहिर्द्वंद्व तत्वों का सामंजस्य उन्होंने बखूबी प्रस्तुत किया पर उनकी मान्यता थी कि पाश्चात्य नाट्य परंपरा का अनुसरण केवल अनुकरण मात्र होना चाहिए नाटककार को इसका अंधानुकरण करने की आवश्यकता नहीं है। ''प्रसाद के नाटकों पर पाश्चात्य नाटक कला के प्रभाव की बात बहुत पहले स्वीकार कर ली गई थी। विद्वानों ने ऐसा अनुभव किया था कि प्रसाद ने बांग्ला के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेंद्रलाल राय की कृतियों से प्रेरणा ली थी। राय महोदय अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर से प्रभावित थे। इस प्रकार प्रसाद भी परोक्षतः शेक्सपियर की स्वच्छन्दतावादी शैली से प्रभावित थे।''[5]

''रंगमंच की सीमाओं और संसाधनों से बाधित होकर नाट्य लेखन करने को प्रसाद समीचीन नहीं समझते थे। उनके अनुसार ऐसे नाटक सौंदर्य के नये क्षितिज प्रकाशित नहीं होंगे।''[6] वे मानते थे कि वर्तमान में उपलब्ध जो वैज्ञानिक तकनीकी साधन है नाटककार को उनका उपयोग रंगमंच को प्रभावी बनाने के उद्देश्य से करना चाहिए। वे प्रकाश व्यवस्था, ध्वनि प्रभाव और दृश्य को दिखाने हेतु कई वैज्ञानिक उपकरणों का इस्तेमाल भी करते थे।

हिन्दी रंगमंच के निरंतर विकास के लिए उन्होंने प्रगति और परंपरा दोनों का समन्वय आवश्यक माना। ''नाट्य शिल्प, संवेदना और रंग प्रदर्शन की शैली और साधनों आदि सभी दृष्टियों से प्रगति और परंपरा का समन्वय आवश्यक होता है।''[7] प्रसाद ने हिन्दी रंगमंच के पूर्ण विकास के लिए परंपरा से चली आ रही नाट्यधर्मी और लोकधर्मी नाट्य शैलियों का अनुसरण किया। नाट्य लेखन की भाषा पर प्रसाद ने अपने मत प्रस्तुत किये। उनका मानना था कि नाटकों की भाषा सृजनात्मक होनी चाहिए वे अन्य विद्वानों कि इस मत से बिलकुल भी सहमत नहीं थे कि पात्रों की भाषा उनकी स्वाभिकता के अनुरूप होनी चाहिए। उनके अनुसार भाषा की साहित्यिक गरिमा होनी भी

आवश्यक है, भाषा की स्वतंत्रता नष्ट करके कई तरह की खिचड़ी भाषाओं का प्रयोग हिन्दी नाटकों के लिए स्वीकार्य नहीं होता। ''हिन्दी नाटक में प्रसाद के आने से गुणात्मक परिवर्तन होता है। सीधी-सपाट भाषा की तुलना में लाक्षणिक और अधिक अर्थ-संपन्न भाषा का प्रयोग होने लगता है।''[8]

नाट्य सृजन में प्रसाद ने रस को अधिक महत्त्व दिया। उनके अनुसार ''जैसे विश्व के भीतर से विश्वात्मा की अभिव्यक्ति होती है उसी तरह नाटकों में रस की।''[9] प्रसाद के रस संबंधी विचार अभिनवगुप्त से प्रेरित थे। पाश्चात्य साहित्य में प्रचलित व्यक्ति- वैचित्र्यवाद के स्थान पर प्रसाद ने भारतीय रस दृष्टि की प्रतिष्ठा की। प्रसाद ने हिन्दी रंगमंच में अभिनेत्रियों का अभाव पाया और उनके अनुसार यही हिन्दी रंगमंच के पिछड़ने का कारण भी रहा। अभिनेत्रियों का अभाव रंगमंच को प्रभावहीन और निर्जीव बना देता है। वे अभिनेत्रियों के साथ-साथ कुशल अभिनेता व निर्देशकों के अभाव को भी समझ रहे थे।

निष्कर्ष : प्रसाद के अनुसार "यह भारी भ्रम है कि रंगमंच नाटक के लिए लिखे जाये। प्रयत्न तो क्या होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो, जो व्यावहारिक है।''[10] अतः हम यह कह सकते हैं कि हिन्दी रंग-परंपरा को नया आयाम देने में प्रसाद की भूमिका अतुलनीय रही। उन्होंने हिन्दी साहित्य को नया स्वरूप प्रदान किया। पारसी, अंग्रेज़ी, बांग्ला भाषा और रंगमंच के प्रभाव को कम कर हिन्दी रंगमंच को भारतीय नाट्य परंपरा से जोड़ा।

संदर्भ

1. प्रो. केसरी कुमार, प्रसाद और उनके नाटक, बिहार प्रकाशन समिति, आरा पटना, पृ. 136
2. रीतारानी पालीवाल, रंगमंच नया परिदृश्य, वाणी प्रकाशन, दिल्ली-02, पृ. 222
3. वही, पृ. 11
4. डॉ. रामचंद्र तिवारी, हिन्दी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, उ.प्र. 01
5. वही, पृ. 766
6. डॉ. शशि सरदाना एवं मांधाता ओझा, नाट्य चिंतन और रंग प्रयोग, कला मंदिर, नई सड़क दिल्ली-06, पृ. 186
7. वही, पृ. 188
8. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज-01, पृ. 150
9. जयशंकर प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, डायमंड पॉकेट बुक, दिल्ली-20 पृ. 53
10. वही, पृ. 71

शोधार्थी,
पीएच.डी. (हिन्दी विभाग)
दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

●

इंटरनेट से साभार

रंगमंच के संबंध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जाएँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हों, जो व्यावहारिक है। हाँ, रंगमंच पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता है। देश-काल की प्रवृत्तियों का समुचित अध्ययन भी आवश्यक है। फिर तो पात्र रंगमंच पर अपना कार्य सुचारू रूप से कर सकेंगे। इन सबके सहयोग से ही हिंदी रंगमंच का अभ्युत्थान संभव है।

('काव्य और कला तथा अन्य निबंध' पुस्तक से)

इतिहास को लेकर प्रसाद का आधुनिक दृष्टिकोण

अनीता देवी

शोध-सारांशः हिन्दी साहित्य में अनेक महान साहित्यकार हुए हैं, जिन्होंने अपनी लेखनी से हिन्दी साहित्य की अनेक विधाओं में महत्त्वपूर्ण रचनाओं से साहित्य को समृद्ध किया है। कविता, नाटक, कहानी और उपन्यास ये साहित्य की महत्त्वपूर्ण विधाएँ हैं। कविता के साथ- साथ नाटक की जड़ें भी भारत में बहुत गहरी थीं। भरत मुनि के नाट्य शास्त्र से नाटक की शुरुआत होती है उसके बाद कालिदास, भास आदि नाटककार हुए, आधुनिक काल में भारतेंदु ने संस्कृत और बंगला भाषा के नाटकों का हिन्दी में अनुवाद कर इस प्राचीन विधा को पुनः आरंभ किया, उन्होंने मौलिक नाटकों की भी रचना की। फिर नाटकों की परंपरा को आगे बढ़ाने का कार्य प्रसाद ने किया। प्रसाद के नाटकों का कथानक ऐतिहासिक है अर्थात् नाटकों की कथाएँ इतिहास से ली और उन्हें वर्तमान जीवन से जोड़ा। शायद यही कारण रहा होगा कि उन्होंने अपने नाटकों के लिए संस्कृतनिष्ठ भाषा को चुना। प्रसाद अपने उद्देश्य में सफल हुए और उन्होंने अपने नाटकों में सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं को उठाया, राष्ट्रीयता का समावेश किया। इसके लिए उन्होंने अपनी भाषा की सर्जना स्वयं करनी पड़ी। भाषा को काव्यमय और व्यवस्थित रूप देकर आधुनिक स्वरूप प्रदान किया।

बीज शब्दः ऐतिहासिक, संस्कृतनिष्ठ, राष्ट्रीयता, कालखण्ड, जातीय अस्मिता

प्रस्तावना

भारतेंदु के बाद प्रसाद ही हिन्दी के पहले महत्त्वपूर्ण नाटककार हैं, जिन्होंने नाटक विधा का गहरी सांस्कृतिक तलाश के लिए उपयोग किया और उन्होंने हिन्दी नाटक को एक नयी सृजनात्मक ऊँचाई प्रदान की। जब प्रसाद ने साहित्य की दुनिया में कदम रखा तब भारत अंग्रेजों के अधीन था। चारों ओर सामाजिक, राजनैतिक व धार्मिक उथल-पुथल चल रही थी। एक तरफ देश की जनता अंग्रेजों के अत्याचारों से तंग आ गयी थी, तो दूसरी ओर विश्व-युद्धों की मार को झेल रही थी। सभी भारतीय अंग्रेजों से आज़ादी पाना चाहते थे। ऐसे समय में प्रसाद ने अपने युगीन परिवेश को पहचाना और अपने नाटकों में इस वर्तमान स्थिति से मुक्ति पाने के लिए प्रयत्नशील दिखाई दिये। इसके लिए उन्होंने इतिहास का सहारा लिया। प्रसाद की दृष्टि भारतीय इतिहास के उन गौरवपूर्ण काल खण्डों की ओर गयी जो भारतीय जनता के अन्दर जागरूकता पैदा कर सकते थे। इस प्रकार प्रसाद अतीत में समकालीन भारत की समस्याओं का समाधान ढूँढने लगे। यही कारण है कि हमें उनके अतीत में भी वर्तमान का स्वर सुनाई देता है। उनके नाटकों में विद्यमान उथल-पुथल, युद्ध, द्वंद्व, जातीय संघर्ष का कारण भी यही है। ऐतिहासिक कथानक होने के बावजूद भी जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों में मानवता, राष्ट्रीयता, नियति, विश्व-दृष्टि, इतिहास-चेतना, तर्क और विश्वास, धर्म का स्वरूप, सामाजिक चेतना, जागरण और नये मूल्य आदि की स्थापना की है। इतिहास से अपने नाटकों की कथावस्तु लेने के कारण हम उनको पलायनवादी नहीं कह सकते बल्कि यह कह सकते हैं कि यह प्रसाद का इतिहास को लेकर आधुनिक दृष्टिकोण था। उन्होंने इतिहास का वर्तमान सन्दर्भ में प्रयोग कर भारतीय जनता को अपने देश पर न्योछावर होने की प्रेरणा दी।

प्रसाद की इतिहास दृष्टि : 'इतिहास' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत हिन्दी शब्द कोश के अनुसार 'इति' + 'ह' + 'आस', इन तीन पदों से हुई है। जिनका अर्थ इस प्रकार है—इति- इस प्रकार, ह- निश्चय रूप से, आस- हुआ अर्थात् निश्चय रूप से ऐसा ही हुआ। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि जिससे पूर्व घटना का दृढ़ ज्ञान हो उसे 'इतिहास' कहते हैं।[1]

इतिहास का बोध और साहित्य-बोध एक ही सत्य से जुड़े होने के कारण वर्तमान में विकास की नयी संभावनाओं को विकसित करने में सहायक होता है। इससे न केवल साहित्य में विकास और गति की दिशा का बोध होता है अपितु साहित्य के विकास के इतिहास को समाज के विकास के इतिहास से संबंधित करने का भी बोध होता है। इस तरह इतिहास-दृष्टि साहित्य का जहाँ समाज से अन्योन्याश्रित संबंध स्थापित करने में सार्थक होती है, वहाँ सामाजिक समस्याओं के समाधान का भी मार्ग प्रशस्त करती है। प्रसाद की इतिहास-विषयक दृष्टि अपने युग और अपने पूर्ववर्ती युगों को समझने और उनमें एक स्वाभाविक रिश्ता कायम करने में सहायक है। उनकी दृष्टि लोकमंगल की स्थापना करने, सार्वभौम सत्ता का विस्तार करने, मनुष्य और प्रकृति का मेल करने, मानवीय चेतना को विश्वात्मा के रूप में प्रदर्शित करने, कार्य और कारण के बीच सापेक्षित संबंध को पहचानने, इतिहास में द्वंद्व भाव को ढूँढ़ने और चाक्रिक रूप में विकास करने, प्रत्ययवाद और भौतिकवाद का समाहार कर सृष्टि और समाज का समन्वित दर्शन प्रस्तुत करने में सफल सिद्ध हुई है। अतः वह इतिहास के गतिशील और परिवर्तनशील क्रम में मानव के निरंतर विकास को दर्शाने वाली दृष्टि हैं।

प्रसाद की इतिहास-दृष्टि का आधार, उनके नाटकों की भूमिका, 'कामायनी' का आमुख और निबन्ध आदि हैं। इन सबका अध्ययन करने के बाद ही हम उनकी इतिहास-दृष्टि और इतिहास-बोध को समझ सकते हैं। आधुनिक हिन्दी के साहित्यकारों में प्रसाद को चेतना व्यापक और गम्भीर है। उन्होंने भारतीय जातियों के सुदीर्घ फलक पर विभिन्न जातियों और संस्कृतियों के उत्थान-पतन का अनुशीलन करके इतिहास के विशिष्ट स्वरूप की कल्पना की है। प्रसाद के अनुसार इतिहास

केवल स्थूल राजनीतिक घटनाओं की अभिव्यक्ति न होकर सूक्ष्म आत्माभिव्यक्ति है जिसमें भौतिक घटनाओं के स्थान पर सांस्कृतिक परंपरा का उद्घाटन होना चाहिए। उनके विचार से जहाँ से हम किसी देश या जाति के इतिहास का शुभारंभ मानते हैं, उस सीमा से पहले भी मानव चेतना की एक लंबी परंपरा होती है जिसकी दृढ़ आधार-शिला पर उस इतिहास का प्रासाद खड़ा होता है। उनकी इस धारणा के दर्शन हम 'कामायनी' के आमुख में कर सकते हैं ''प्रायः लोग गाथा और इतिहास में मिथ्या और सत्य का व्यवधान मानते हैं। किंतु सत्य मिथ्या से अधिक विचित्र होता है। आदिम युग के मनुष्यों के प्रत्येक दल ने ज्ञानोन्मेष के अरुणोदय में जो भावपूर्ण इतिवृत संगृहीत किये थे उन्हें आज गाथा या पौराणिक उपाख्यान कहकर अलग कर दिया जाता है, क्योंकि उन चरित्रों के साथ भावनाओं का भी बीच-बीच में संबंध लगा हुआ-सा दीखता है। घटनाएँ कहीं-कहीं अविजित सी जान पड़ती है।... किंतु उनमें भी कुछ सत्यांश घटना से संबंध है, ऐसा तो मानना ही पड़ेगा।"[2]

जयशंकर प्रसाद ने 'कामना' और 'एक घूँट' को छोड़कर सभी नाटकों में ऐतिहासिक या पौराणिक आख्यान को अपने नाटकों का विषय बनाया है। उन्होंने इतिहास का अध्ययन, चिंतन- मनन करके 'सज्जन', 'प्रायश्चित', 'राज्यश्री', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'स्कन्दगुप्त', 'चंद्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' जैसे ऐतिहासिक नाटकों की रचना की। प्रसाद के नाटकों में महाभारत काल (जनमेजय का नागयज्ञ) से लेकर बुद्ध-काल (अजातशत्रु) मौर्यकाल (चंद्रगुप्त) गुप्तकाल (स्कन्दगुप्त एवं ध्रुवस्वामिनी) और वर्द्धनकाल (राज्यश्री) अर्थात् लगभग समग्र प्राचीन अथवा हिन्दुकाल अंतर्भूत हो गया है। उनके इतिहास प्रसिद्ध पात्र फिर चाहे वह व्यास हो या बुद्ध, चाणक्य हो या चंद्रगुप्त या ध्रुवस्वामिनी सभी मानवीय धरातल पर ही चित्रित किये गये हैं और इसी के परिणामस्वरूप वे अधिक जीवंत और प्रभावी प्रतीत होते हैं। प्रसाद का मनोविज्ञान मानव को न देवता बनने देता है और न दानव। प्रसाद के नाटकों की आत्मा अतीत की होते हुए भी प्रायः प्रत्येक नाटक में प्रसाद की दृष्टि वर्तमान पर ही रही है। भारतीय संस्कृति और समाज-सुधार के किसी-न-किसी पक्ष को वे अपने नाटकों में ले ही आते हैं। प्रसाद के नाटकों में राष्ट्रवाद एक प्रमुख सिद्धांत के रूप में चित्रित है। हम चंद्रगुप्त नाटक में देख सकते हैं कि अलका और सिहरन किस तरह देश के लिए मर मिटने के लिए तैयार हैं। देशभूमि के लिए की गई उनकी सेवाओं से वर्तमान की युवा पीढ़ी प्रेरणा प्राप्त करती हुई प्रतीत होती है। अलका में इस भावना का पूर्णरूप प्रस्फुटित हुआ है। वह आर्य-पताका लेकर नागरिकों के साथ गाती है—''हिमाद्रि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती/स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती/ अमर्त्य वीरपुत्र हो दृढ़-प्रतिज्ञा सोच लो/प्रशस्त पुण्य पंथ है-बढ़े चलो-बढ़े चलो!''[3]

प्रसाद ने इन नाटकों में इतिहास की अधिकतम रक्षा करते हुए भी कल्पना से काम लिया है। उनके नाटक ऐतिहासिक होते भी सभी आधुनिक विशेषताओं को अपने अंदर समेटे हुए हैं। ऐतिहासिक नाटकों के द्वारा हमने प्रसाद के इतिहास-बोध को जाना और उनमें निहित आधुनिक दृष्टि को भी। अतीत की घटनाओं और उन घटनाओं के पीछे काम करने वाली अनेक प्रकार की भौतिक, सामाजिक शक्तियों और इनके भीतर के कार्य-कारण-सम्बधों की खोज में प्रसाद की दृष्टि रही है, हमने उसको जाना। इन नाटकों में इतिहास एक दिशा दिखाता प्रतीत होता है। हम इतिहास से सबक नहीं लेते तो इतिहास बार-बार अपने को दोहराता है। प्रसाद के समय में भी हम देखते हैं उन्हीं राष्ट्रीय और मानवीय संकटों के दौर को, जो दौर कभी इतिहास में भी होकर गुजरा था। प्रसाद ने अपने समय को टटोलते हुए भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंशों को प्रकाशित किया ताकि हमारा वर्तमान अतीत से निर्देशित होकर सही दिशा में चलने का प्रयत्न कर सके।'' इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यंत लाभदायक होता है...। क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारी जलवायु के अनुकूल जो हमारी जातीय सभ्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं, इसमें हमें पूर्ण संदेह है। मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने कि हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।"[4] प्रसाद ने अपने इतिहास-बोध के द्वारा भारतीय जनता के इस भय को तोड़ा कि वे अपने वर्तमान का निर्माण अपनी इच्छानुसार नहीं कर सकते। उन्होंने ऐतिहासिक चेतना को अपने नाटकों का मूलाधार बनाया। अपने नाटकों के माध्यम से भारतीय जनता में अंग्रेजों के विरुद्ध खड़े होने का साहस जगाया। इसलिए उनकी यह ऐतिहासिकता समसामयिक ज्वलंत प्रश्नों, समस्याओं को प्रकट करने और उनका समाधान करने में कहीं भी बाधक नहीं बनती। इस प्रकार गौरवपूर्ण इतिहास वर्तमान को सँवारने की प्रेरणा प्रदान करता है। प्रसाद का यह इतिहास-बोध आधुनिकता से संपृक्त है। प्रसाद का मानना है कि इतिहास का संकलन मानव जीवन की अनंत इच्छाओं और कल्पना तत्त्व के परिपाक से होता है। न मानव की इच्छाओं का अंत होगा और न उसके इतिहास का सृजन कभी रुकेगा ''समाज की अभिलाषा अनन्त स्रोत वाली है। पूर्व कल्पना के पूर्ण होते-होते एक नई कल्पना उसका विरोध करने लगती है और पूर्व कल्पना कुछ काल तक ठहरकर फिर होने के लिए अपना क्षेत्र प्रस्तुत करती है। इधर इतिहास का नवीन अध्याय खुलने लगता है मानव समाज के इतिहास का इसी प्रकार संकलन होता है।''[5]

प्रसाद ने विभिन्न संस्कृतियों के निजी वैशिष्ट्य को विश्ववाद का विरोधी नहीं माना। उनका कहना है कि ''खगोलवर्ती ज्योतिकेंद्रों की तरह आलोक के लिए इनका परस्पर संबंध हो सकता है।''[6] भेद में अभेद देखने वाली प्रसाद की यह चिंतन दृष्टि भारतीय इतिहास के विभिन्न युगों को प्रकाशित करती चलती है। 'प्रसाद' ने इतिहास के माध्यम से मानव जीवन के चिरंतन सत्य को व्यक्त करने का प्रयास किया है। उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत का इतिहास सर्वाधिक सहायक रहा। 'प्रसाद' को भारतीय इतिहास की सीमाओं का भी ज्ञान था। ''भारत के प्राचीन इतिहास की जैसी कमी है वह पाठकों से छिपी नहीं है। यद्यपि धर्म-ग्रंथों में सूत्र-रूप से बहुत-सी गाथाएँ मिलती हैं किंतु वे क्रमबद्ध और घटना-परंपरा से युक्त नहीं हैं। संस्कृत साहित्य में इतिहास नाम से लब्धप्रतिष्ठ केवल 'राजतरंगिणी' नामक ग्रंथ

उपलब्ध होता है। कल्हण पंडित ने अपने पूर्व के कई इतिहासों का और उनके लेखकों का उल्लेख किया है पर वे अब मिलते नहीं।''[7]

भारत के इतिहास के विश्रृंखलित होने के पीछे कारण प्राचीन काल से विभिन्न जातियों एवं धर्मावलंबियों का बार-बार होने वाला संघर्ष है जिसके परिणामस्वरूप इतिहास के अनेक प्रतीक साक्ष्य नष्ट हो गये। ''उनके पास अरस्तु से लेकर वर्तमान काल तक की सौंदर्यानुभूति सम्बन्धी विचारधारा का क्रम विकास और प्रतीकों के साथ-साथ उनका इतिहास तो है ही, सबसे अच्छा साधन उनकी अविच्छिन्न सांस्कृतिक एकता भी है। हमारी भाषा के साहित्य में वैसा सामंजस्य नहीं है। बीच-बीच में इतना अभाव या अंधकार काल है कि उनमें कितनी ही विरुद्ध संस्कृतियाँ भारतीय रंगस्थल पर अवतीर्ण और लोप होती दिखायी देती हैं, जिन्होंने हमारी सौंदर्यानुभूति के प्रतीकों को अनेक प्रकार से विकृत करने का ही उद्योग किया है।''[8]

निष्कर्ष : प्रसाद अपने नाटकों के माध्यम से देश के इतिहास दर्शन के साथ राष्ट्रीय दृष्टि लेकर हमारे सामने उपस्थित हुए हैं। जयशंकर प्रसाद के नाटकों में दार्शनिकता का स्वरूप गहन और व्यापक है। उनके नाटक केवल मनोरंजन का साधन नहीं हैं, बल्कि वे जीवन के गहरे सत्य, मानव मूल्यों और भारतीय दर्शन की झलक प्रस्तुत करते हैं। उनके पात्र जीवन के संघर्ष, प्रेम, त्याग, और कर्तव्य के माध्यम से दर्शन के उच्च आदर्शों को व्यक्त करते हैं। प्रसाद का यह दार्शनिक दृष्टिकोण उनके नाटकों को भारतीय साहित्य में विशिष्ट स्थान प्रदान करता है। यह दर्शन भारतीय वैदिक परंपरा और बौद्ध चिंतन से प्रेरित है। वैदिक दर्शन से अद्वैतवाद को और बौद्ध धर्म से करुणा और क्षमा को ग्रहण किया है। भारतीय चिंतकों का प्रतिनिधि दाण्डयायन नामक पात्र एक ऐसा दार्शनिक है जो लोभ, भय या सम्मान से संत्रस्त नहीं होता। वह बिना किसी डर के वही कहता है जो सत्य है।

सन्दर्भ सूची

1. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोर्स, पृष्ठ संख्या-174. 1966 संस्करण
2. प्रसाद, कामायनी (आमुख से), पृष्ठ संख्या-3, 4
3. प्रसाद, चंद्रगुप्त, पृष्ठ संख्या-164
4. प्रसाद, आजातशत्रु, कथा प्रसंग, पृष्ठ संख्या-7
5. वही, पृष्ठ संख्या-7
6. प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ संख्या-28
7. प्रसाद, विशाख परिचय पृष्ठ संख्या-05
8. प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ संख्या-32

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
मैत्रेयी महाविद्यालय,

●

इंटरनेट से साभार

''मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत प्रयत्न किया है।''

('विशाख' के प्रथम संस्करण की भूमिका)

मोहन राकेश के नाटकों में प्रयोगधर्मिता

रोहिणी पांड्यान

नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा में प्रयोग शब्द का अर्थ नाटक का अभिनय लिया जाता रहा है। नाटक की प्रस्तुति की दृष्टि से नाट्य-प्रयोग और अभिनय ये तीनों शब्द पर्याय कहे गये हैंः

प्रयोगो यस्तु नाट्यार्देभवेदभिनयोहि सः

नाट्यशास्त्र के अनुसार रंगमंच पर शास्त्र का कर्म में रूपांतर ही प्रयोग है– *'शास्त्रकर्म समायोगः प्रयोग इति संज्ञितः।'*

(नाशा. 27, 101)

नाटक और रंगमंच की आधुनिक समीक्षा में अंग्रेजी के 'एक्सपेरीमेंट' के अर्थ में प्रयोग शब्द को ग्रहण किया जा सकता है। नाटक और रंगमंच में नवीन प्रवृत्तियों या रूढ़ियों के बहिष्कार के साथ अप्रचलित या अपूर्व तत्त्वों के समावेश को प्रयोग कहा जा सकता है और प्रयोग की इस प्रवृत्ति को प्रयोगधर्मिता कहा जाता है।

प्रसादोत्तर युगीन हिन्दी नाटकों में निरूपित नवीन प्रयोगों या अभिनव प्रवृत्तियों को देखा जा सकता है। प्रसाद के बाद हिन्दी नाटक में कई नवीन प्रवृत्तियों का अविर्भाव हुआ। पिछले कुछ दशकों में लिखे गये नाटकों में लोकनाट्य, पारंपरिक रंगमंच तथा लोककथाओं को अपनाने की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ी है।

राजस्थान के लोकमंच का अपनी नाट्य-रचना में सर्जनात्मक उपयोग करके मणि मधुकर ने हिन्दी नाटक में लोकनाट्य के अवतरण की दिशा खोली है। अनेक आधुनिक नाटककारों ने भी पारंपरिक नाट्य ही नहीं, लोक-कथाओं और लोकतत्त्वों का भी नाट्य की नवीन परिकल्पना में विनियोग किया है, नाटक में मिथक तथा इतिहास की नवीन व्याख्या, व्यक्तिवादी तथा अस्तित्ववादी परंपरा का प्रभाव, विसंगत नाटक, लोकनाट्य और लोककथाओं से प्रभावित नाटक ये चारों प्रवृत्तियाँ हिन्दी नाटकों की नयी प्रयोगधमिता की दिशाएँ उन्मीलित करती हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में कहानियों और उपन्यासों के नाट्य-रूपांतर की एक नयी प्रवृत्ति भी प्रचलित हुई है। दूसरी ओर लोकनाट्य का सामाजिक प्रतिबद्धता के साथ एक नया रूप 'नुक्कड़ नाटक' के रूप में तेजी से उभरा है।

हिन्दी नाटक में प्रयोगधर्मिता की उक्त दिशाओं के विवेचन के साथ नाटक की संरचना के भीतर नये प्रयोगों का उन्मेष तीन स्तरों पर हुआ है- वस्तु के स्तर पर, शिल्प के स्तर पर तथा रंगशिल्प के स्तर पर।

वस्तु के स्तर पर नये प्रयोगों का उन्मेष प्रसाद के नाटकों में नये विषयों के निरूपण रूप में देखा जा सकता है। इसमें मिथक की आधुनिक संदर्भों में व्याख्या है। तो कहीं समकालीन जीवन की नवीनतम प्रवृत्तियों के रूप भी हैं।

शिल्पगत प्रयोगों से नाटक का तत्त्व प्रभावित होता है। वे नाटक के साहित्यिक पक्ष से संबंधित होते हुए नाटक की अभिनेयता को भी प्रभावित करते हैं। शिल्प-गत प्रयोग नाटक के साहित्यिक और रंगमंचीय स्वरूप को जोड़ने का कार्य करते हैं। नाटकों में जो गीत रखे जाते हैं, उन्हें हम साहित्यिक विवेचन का विषय मानते हैं पर नाटक में जो संगीतमय वातावरण गीतों से बनता है उससे उनकी रंगमंचीय उपयोगिता पर विचार किया जाना चाहिए। स्वगत उक्तियाँ भी इसी के अंतर्गत आती हैं।

शिल्पगत प्रयोग वस्तुशिल्प व रंगशिल्प दोनों को प्रभावशाली बनाने में सहायक होते हैं। इसीलिए साहित्यिक व रंगमंचीय दोनों दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, फिर भी शिल्पगत प्रयोग प्रमुखतः मूल रूप में साहित्यिक ही होते हैं। रंग-शिल्प से उनका संबंध अनिवार्य नहीं होता। शिल्पगत प्रयोगों को हम सही माने में नाटककार की उपलब्धि मान सकते हैं, रंगकर्मियों की नहीं।

काव्यनाटक में सीधे-सीधे समकालीन परिवेश का चित्रण प्रायः नहीं किया जाता। वह किसी मिथकीय अथवा ऐतिहासिक वृत्त की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करता है जो समकालीन संदर्भों में प्रासंगिक हो। अतएव भाषा के स्तर पर मुक्त छंद का संवादों में प्रयोग तथा वस्तु के स्तर पर मिथकीय संसार पर नवीन दृष्टि–ये काव्यनाटक के माध्यम से प्रतिफलित होने वाले नवीन प्रयोग हैं।

रंगशिल्पगत प्रयोग मूलतः रंगमंच से संबंध रखते हैं। यूनानी नाटककार सोफोक्लीज-रंगमंच को चित्रित दृश्यपटों से सजाने वाला प्रथम नाटककार माना जाता है। सोफोक्लीज नाटक के साहित्यिक स्वरूप के बजाय रंगमंच पर नाटक के प्रस्तुतीकरण से ज्यादा जुड़ा हुआ है।

वस्तुतः नाटक की उत्कृष्टता की पहचान प्रयोग के उक्त तीनों प्रकारों से समन्वित समग्र प्रयोगधर्मिता के द्वारा होती है। अतएव न तो केवल वस्तुगत प्रयोगों से कोई नाट्य कृति श्रेष्ठ बन सकती है, न केवल शिल्पगत, न रंगशिल्प प्रयोगों से ही, अपितु इन तीनों का समान रूप से प्रकर्ष किसी नाटक की श्रेष्ठता का मानदंड हो सकता है। यदि किसी नाटक में मौलिक दृष्टि से वस्तुगत प्रयोग हुए हैं तो वह नाटककार उनके अनुरूप नाट्यशिल्प और रंगशिल्प की भी नवीन ढंग से परिकल्पना करेगा। विश्व के सभी श्रेष्ठ नाटककारों में हम इसीलिए तीनों प्रकार के प्रयोगों का समान रूप में निर्वाह पाते हैं। हिन्दी की आधुनिक नाट्य-परंपरा में भी हम देखते हैं कि 'अंधा युग' के रचनाकार ने वस्तुगत प्रयोग के स्तर पर नाट्य के क्षेत्र में मिथक की आधुनिक व्याख्या का अभिनव उपक्रम किया, तो उसी के अनुरूप कथागायन, कोरस आदि नाट्यशिल्प और रंगशिल्प के भी तत्त्वों का नये ढंग से समावेश उसने इस कृति में किया। मोहन राकेश ने समाज में व्यक्ति के अस्तित्व संघर्ष, उसके अकेलेपन और नियति की वस्तु पहली बार हिन्दी नाटक के क्षेत्र में गहराई से प्रस्तुत की और उसके

अनुरूप नाट्य-भाषा, शिल्प और रंगमंचीय परिवेश की भी निरंतर तलाश करते रहे। विसंगत नाट्यकारों ने आधुनिक जीवन की ऊब, हताशा और मूल्यों के ह्रास की वस्तु को इस तरह प्रस्तुत किया कि उनके यहाँ नाटक का सारा परंपरागत ढाँचा टूट गया तथा नाटक की भाषा-शिल्प और रंगमंचीय कार्य-व्यापार का एक दूसरा ही रूप सामने आया। दूसरी ओर हिन्दी के जो नाटककार सामाजिक मूल्यों से प्रतिबद्ध होकर लिख रहे हैं, उन्हें अपनी नाटकों की विषय-वस्तु के अनुरूप नाट्यशिल्प और रंगशिल्प, परंपरागत भारतीय लोकनाट्य के विभिन्न रूपों में दिखायी पड़ा।

नाटक में प्रयोगधर्मिता के वस्तुगत, शिल्पगत और रंगशिल्प- ये तीनों स्तर परंपरा पर आधारित हैं और इन्हें एक-दूसरे से विच्छिन्न करके नहीं देखा जा सकता। नाटक-कृति के समग्र मूल्यांकन के लिए इन तीनों के पारस्परिक अंतःसंबंध को भी दृष्टि में रखना चाहिए। राकेश ने नाटक ने अपने नाटक में प्रयोगधर्मिता के वस्तुगत, शिल्पगत और रंगशिल्प इन तीनों स्तरों का निर्वाह किया है।

राकेश के नाटकों में ऐतिहासिक विषय वस्तु के परिप्रेक्ष्य में आज के जीवन की ही अभिव्यक्ति है। राकेश का कालिदास ऐतिहासिक पात्र होते हुए भी सामान्य भावों में बोलता है। परिस्थितियों की रचना के द्वारा ही उसे ऐतिहासिकता प्रदान की गयी है। नाटक में कालिदास दुर्बल और सामान्य व्यक्ति है। ''कालिदास मेरे लिए एक व्यक्ति नहीं है, हमारी सृजन शक्तियों का प्रतीक है, नाटक में वह प्रतीक उस अन्तर्द्वन्द्व को संकेत करने के लिए है जो किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आन्दोलित करता है। व्यक्ति कालिदास को उस अन्तर्द्वन्द्व से गुजरना पड़ा या नहीं, यह बात गौण है। मुख्य (यह है कि हर काल में बहुतों को उसमें से गुजरना पड़ा है हम भी आज उसमें से गुजर रहे हैं।"[1] दरअसल सनातन रचनाकार की नियति है। वह सत्ता सम्पोषण प्राप्त करने के बाद कुछ नहीं कर पाता बल्कि अपना सब कुछ खो देता है- उसे कुछ मिलता है तो महज मल्लिका से ही मिलता है। अन्ततः उसकी वापसी मल्लिका के टूटे-जर्जर घर में ही होती है। लेकिन वहाँ जाकर निराशा के अलावा उसे कुछ नहीं मिलता। कालिदास जीवन की विसंगति से पीड़ित होकर दिग्भ्रमित होता है और अलक्ष्य जिन्दगी की तलाश में निकल पड़ता है। जिससे आधुनिकता का बोध स्पष्ट होता है। राकेश के नाटक ऐतिहासिक मुखौटे के बावजूद आधुनिक पुरुष की विवशता को यथार्थ की कसौटी पर कसते हैं।

मल्लिका अनेक वर्षों के बाद प्रेमी कालिदास को समक्ष पाकर कहती है—यही, परन्तु तुम मेरे जीवन में सदा बने रहे हो। मैं यद्यपि तुम्हारे जीवन में नहीं मैंने कभी तुम्हें अपने से दूर नहीं होने दिया। तुम रचना करते रहे, और मैं समझती रही कि मैं सार्थक हूँ, मेरे जीवन की भी कुछ उपलब्धि है।''[2]

आषाढ़ का एक दिन' नाट्य रूप की दृष्टि से सुसंगठित है। यह आधुनिक हिन्दी नाट्य जगत् का पहला नाटक है जिसमें ऐतिहासिक विषय-वस्तु के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान जीवन के अन्तर्द्वन्द्व और बाह्य-ययार्थ को अभिव्यक्त किया गया है। नाटक का पहला अंक आकर्षक, द्वन्द्वपूर्ण, स्वाभाविक, भावपूर्ण और अभिनय से युक्त है। एक प्रसंग में हल्के-हल्के मेघ गर्जन और वर्षा के दृश्य में साधारण से घर में भींगती हुई मल्लिका का प्रवेश दिखाया गया है। वह ''गीले वस्त्रों में काँपती हुई, सिमटती अन्दर आती है। अम्बिका सिर झुकाये व्यस्त रहती है। इस प्रसंग में मल्लिका क्षण भर ठिठकती है, फिर अम्बिका के पास आ जाती है।''[3]

दूसरा अंक प्रयम अंक जैसा हृदयग्राही और भावभीना नहीं बन पड़ा है। इसमें नाटक की गम्भीरता लुप्त होने लगती है। तीसरे अंक में मल्लिका के हृदय की उथल-पुथल, विवशता और कालिदास का कश्मीर छोड़कर आना और निःश्वास छोड़कर पुनः अदृश्य हो जाना हृदयग्राही रहा है। यह अंक गत्यात्मकता और अभिनयशीलता की दृष्टि से सम्पन्न और सशक्त रहा है। द्वितीय अंक प्रथम और तृतीय अंक की तुलना में शिथिल है। राकेश ने नाटक में अभिनय कला को नवीनता प्रदान की है। राकेश नाटक के रंग मंचन के प्रति, अभिनय के प्रति संवादों के प्रत्ति बहुत अधिक सचेष्ट हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' राकेश का एक ऐसा नाटक है जो प्रयोगधर्मिता की दृष्टि से, अभिनय की दृष्टि से और रंगमंचीय की दृष्टि से नया अन्वेषण माना गया है।

'लहरों के राजहंस' का कथानक आधुनिक संवेदना की उपज है। 'लहरों के राजहंस' नाटक में प्रतीकात्मक रूप अधिक सघन और जटिल है। नाटक का शीर्षक ही इस बात का प्रमाण है कि ''आषाढ़ का एक दिन' की तुलना में 'लहरों के राजहंस' की प्रतीक योजना अधिक जटिल, घटना-प्रवाह अधिक क्षिप्र और अन्तर्द्वन्द्व अधिक गहरा है।''[4]

राकेश ने इस नाटक में प्रमुख घटनाओं, प्रतीकों का प्रयोग बहुत ही सूक्ष्म और नवीनता के साथ किया है जिससे नाटक के तीनों अंकों में बिम्ब नियोजन बहुत ही भावना-प्रधान, संवेदनीय और नाटकीय ढंग से हुआ है। सुन्दरी विदुषी और विलास में विश्वास रखने वाली आधुनिक स्त्री है। नन्द द्वन्द्वग्रस्त आधुनिक पुरुष का प्रतीक है। गौतम बुद्ध निवृत्ति मार्ग के प्रतीक है। नाटक में प्रथम अंक से ही प्रतीक योजना की आधुनिकतम छटा देखने को मिलती है। तृतीयांक में कमलताल से राजहंसों के जोड़े का कहीं चले जाना नन्द द्वारा सुन्दरी (प्रवृत्ति-मार्ग) के परित्याग का ही उपलक्षण है। लेकिन सुन्दरी को सहसा विश्वास नहीं होता कि ''जिस ताल में इतने दिनों से थे, उसका अभ्यास, उसका आकर्षण, क्या इतनी आसानी से छूट सकता है।''[5]

नाटक में आधुनिकता प्रतीकात्मक दृष्टि से भी स्पष्ट होती है। राकेश ने नयी कहानी की तरह नाटक में भी आधुनिकता और रोमेन्टिकता का ताना-बाना नूतन प्रतीकों के माध्यम से निर्मित किया है। इस नाटक के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया गया है कि राजहंस कौन है और लेखक का जबाब है कि ''राजहंस नन्द और सुन्दरी के समानान्तर है-और लहरें उनकी परिस्थितियाँ है।''[6]

'लहरों के राजहंस' में एक और संकेत मृत-मृग का है जो जीवित मृग है। इसका संकेत नाटक में उस समय दिया गया है जब सुन्दरी के निर्देशन में कामोत्सव का आयोजन हो रहा है और यह अवसर अनुकूल नहीं बैठता। इससे अपशकुन का ही संकेत नहीं मिलता बल्कि नन्द की मानसिक स्थिति का भी संकेत मिलता है।

नाटक की समाप्ति काव्यात्मक घरातल पर हुई है। नाटक का अन्तःबोध आधुनिक है जो अन्त होने की सीमा को तोड़ता है क्योंकि नाटक का अंत नये बिन्दुओं की तलाश में बाहर होने की स्थिति में आ जाता है। इस नाटक का अन्त सुन्दरी के इन शब्दों से किया गया है—तुम....। कितने कितने बिन्दु खोजे है आज तक तुमने? जाओ,

एक और बिन्दु खोजो। कितने कितने शब्दों में ढाँपा है उन 'बिन्दुओं को? जाओ कुछ और शब्द ढूंढ़ो तुम।...

फिर भी क्यों वहीं के वहीं बने रहते हो तुम? वही...।[7]

महानगरों में जीवन की स्वाभाविकता गुम हो गई है जिससे आदमी भीड़ का हिस्सा बनकर रह गया है। वह अपनी स्थिति और अभाव से उत्पन्न घुटन और ऊब को झेलने के लिए अभिशप्त है। नाटक का नायक 'महेन्द्रनाथ' अपनी परिस्थितियों से टकरा टकराकर बिखर चुका है फिर भी अपनी स्थिति को झेलने के लिए विवश है। वह कहता है कि ''मैं इस घर में एक रबड़ स्टैम्प भी नहीं सिर्फ एक रबड़ का टुकड़ा बार बार घिसा जाने वाला रबड़ का टुकड़ा।''[7]

इस नाटक के सभी पात्र आधुनिक मध्यवर्गीय समाज के चरित्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। सभी एक दूसरे से अलग होकर जुड़े रहने के लिए बाध्य हैं। नाटक के सम्बन्ध में नाटककार ने स्वयं कहा है- ''विभाजित होकर मैं किसी न किसी अंश में आप में से हर एक व्यक्ति हूँ और यही कारण है कि नाटक के बाहर हो या अन्दर मेरी कोई भी एक निश्चित भूमिका नहीं है।''[8]

राकेश ने नूतन शिल्प, प्रतीक और भाषा के माध्यम से कथानक को घटनाओं से नहीं बल्कि आज के व्यक्ति की मन स्थितियों की बनावट से निर्मित किया है।

राकेश के नाटकों में भारतीय रंग कर्मियों की दृष्टि का समावेश है। 'आधे-अधूरे' आडम्बरहीन नाटक है। रंगमंचीय सरलता ही जीवन की सार्थक भूमिकाओं के उभार में सहयोग देती है। क्योंकि राकेश ने नाटकों में रूप-सज्जा की अपेक्षा भाव-भंगिमा पर अधिक बल दिया है। इसलिए उनके नाटकों में पात्र-परिवर्तन कम करना पड़ता हैं। आधे-अधूरे नाटक के पात्र का चरित्र जीवन्त लगता है। आधे-अधूरे की सावित्री स्वच्छन्द रूप से पूर्ण मनुष्य की तलाश में कभी जुनेजा से, कभी जगमोहन से, कभी शिवजीत से, कभी सिंघानियाँ जैसे भ्रष्ट आदमी से जुड़कर भी भ्रष्ट या पतिता नहीं लगती। एक संघर्षरत नारी के रूप में वह पूरा ध्यान आकृष्ट करती है। वह परिस्थिति में तैरती फिसलती है पर डूबती नहीं। राकेश इस नाटक के माध्यम से आधुनिक जीवन की यथार्थता को अभिनय का रूप देने में सफल हैं। आधुनिक जीवन के दबावों और संघर्षरत आदमी का इतिहास 'आधे-अधूरे' में पूरी तरह उभरता है। राकेश ने नाटकीय भाषा की नये सिरे से तलाश की है। वस्तुतः 'आधे-अधूरे' की भाषा उनके पिछले नाटकों की भाषा की तुलना में अधिक नाटकीय और महत्त्वपूर्ण है। राकेश द्वारा नाटक में दिये गये रंग संकेत नाट्य अर्थ और नाट्य क्रिया को परस्पर एक-दूसरे तक पहुँचाते हैं और एक दूसरे के पूरक बन जाते हैं। नाटक में एक अर्थ और क्रिया की दृष्टि से एक प्रयोग देखा जा सकता है—''ड्रेसिंग टेबुल के सामने चली जाती है। कुछ पल असमंजस में रहती है कि वहाँ क्यों आई है। फिर घ्यान हो आने से आइने में देखकर माला पहनने लगती है। पहन कर अपने को ध्यान से देखती है। गरदन

उठाकर और खाल को मलकर चेहरे की झुरियाँ निकालने की कोशिश करती है।''[9]

'आधे-अधूरे' में व्यक्ति-मन का विश्लेषण बड़ी सूक्ष्मता और यथार्थ ढंग से जीवंत भाषा के द्वारा हुआ है। 'आधे-अधूरे' नाटक में 'लहरों के राजहंस' की तरह प्रतीकों की जटिलता नहीं है। इस नाटक के प्रतीक और संकेत सरल और व्यंजनापूर्ण हैं। इसीलिए 'आधे-अधूरे' की नाट्य भाषा आज के समाज की आन्तरिक भाषा वन गई है। इस नाटक को लक्ष्य करते हुए इब्राहिम अलकाजी ने कहा है—''अनुभूति की सूक्ष्मता को प्रकट करने वाले, ध्वनि और मौन के समन्वय की गहरी समझ रखने वाला केवल एक श्रेष्ठ रचनाकार ही वह उपलब्ध कर सकता था जो राकेश ने किया है।''[10]

राकेश का ध्यान 'आधे-अधूरे' में रूप सज्जा पर अधिक नहीं रहा, लेकिन कथोपकथन पर अधिक रहा। संवादों में भी नूतन शैली का प्रयोग किया गया है।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में उपनिवेशवाद के दुष्प्रभावों के कारण मूल्यों और स्वस्थ परंपराओं के ह्रास ने नाट्यकारों को पारंपरिक लोकनाट्य और भारतीय रंगपरंपरा की तलाश की ओर उन्मुख किया है, जिसके कारण हिन्दी नाटक में प्रयोगधर्मिता की दृष्टि से नयी चेष्टाएँ हुई हैं। इसके अतिरिक्त नयी भौतिक परिस्थितियाँ अथवा यांत्रिकता की प्रगति भी कई बार नाटक में प्रयोगधर्मिता की नयी अवतारणा में सहायक होती है।

संदर्भ सूची

1. लहरों के राजहंस, मोहन राकेश पृ. 8
2. आषाढ़ का एक दिन, मोहन राकेश 99
3. वही, पृ. 7
4. आलोचना, अप्रैल-जून 1968, पृ. 94
5. लहरों के राजहंस, पृ. 23
6. वही, पृ. 66
7. आधे अधूरे, पृ. 44
8. वही, पृ. 12
9. वही, पृ. 78
10. आज के रंग नाटक, सम्पादक इब्राहिम अलकाजी, 1973 ई., पृ. 18।

असिस्टेंट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग, सौराष्ट्र कॉलेज
मदुरै, तमिलनाडु

रमेश गौतम की मिथकीय दृष्टि

कुसुम लता

मिथक कथाएँ सृष्टि और सामाजिक संस्थाओं के उदय के साथ आरम्भ हो जाती हैं। मिथकीय कथाओं में अलौकिक प्रसंगों और शक्तियों का वर्णन होता है। मिथकीय चरित्रों में भी मानवीय गुणावगुण दिखाई देते हैं। मिथक और साहित्य का सम्बन्ध अटूट और अभेद है। हर युग में रचनाकार मिथकों के माध्यम से अपनी युगीन समस्याओं को उजागर करता आया है। मिथकों में हमारी सांस्कृतिक आस्थाएँ, विश्वास और अनुभूतियाँ सुरक्षित हैं। वैज्ञानिक प्रचार-प्रसार के कारण आज के बुद्धिवादी युग में मिथक हमें हमारे सांस्कृतिक जीवन मूल्यों से अवगत कराते हैं। किसी भी समाज में जब सांस्कृतिक आस्थाएँ और विश्वास दम तोड़ने लगते हैं और समाज अपने को असुरक्षित महसूस करने लगता है तब अपने अस्तित्व पर संकट नज़र आने लगता है ऐसे में व्यक्ति अपने जातीय मिथकों का सहारा लेता है। वेद, रामायण, महाभारत, पुराण आदि मिथकीय दृष्टि से विश्व के अन्य किसी भी साहित्य से श्रेष्ठ हैं। इनमें से मनु, अगस्त्य, उर्वशी, शुनःशेप, राम, सीता, शम्बूक, कर्ण, युधिष्ठिर, भीम, एकलव्य आदि अनेक चरित्र एवं घटनाओं को लेकर रचनाकारों ने अपनी युगीन समस्याओं की ओर जन साधारण का ध्यान आकृष्ट करने का सार्थक प्रयास किया है। भौतिक सुखों की लालसा ने मनुष्य में भोग की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है। जिसके परिणामस्वरूप हताशा, निराशा, कुंठा, अकेलापन, अजनबीपन, ईर्ष्या से भरा जीवन जीने पर आधुनिक मानव विवश है। ये समस्याएँ सनातन हैं जो सृष्टि के आरम्भ में भी थी और आज भी हैं। स्त्री-पुरुष संबंधों में स्वतंत्रता का आभास होने लगा है जिसके परिणाम हमारे सामने हैं। संबंधों की इस स्वच्छंदता के कारण कुछ समस्याएँ भी उत्पन्न हो जाती हैं जिसका परिणाम यह हुआ है कि पारिवारिक सम्बन्धों में विघटन की प्रक्रिया आरम्भ हो गई है। विषम परिस्थितियों से गुजरते हुए मानव में सामाजिक मूल्यों जैसे प्रेम, सहयोग, दया, करूणा जैसे भावों का पतन आरम्भ हो गया है। जीवन तनावपूर्ण होकर रह गया है। प्रो. रमेश गौतम भी मिथक के विषय में लिखते हैं—''मिथक आदिम मनोवृत्तियों का पूंजीभूत रूप है जो संवेदना और रागात्मक धरातल पर मनुष्य से मनुष्य की पहचान कराता है। परंपरा बोध, आस्था के धरातल पर जातीय संस्कारों, धार्मिक विश्वासों और सभ्यता के (आदि से अद्यतन) क्रमिक विकास से उपलब्ध मान्यताओं को यह अपने अन्दर समाविष्ट किये रहता है।''[1]

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में विशेषकर हिन्दी नाटक के क्षेत्र में मिथकीय दृष्टि से विचार करने का सर्वप्रथम श्रेय प्रो. रमेश गौतम को जाता है। मिथक की सैद्धांतिकी से सम्बन्धित इनकी दो पुस्तकें—'मिथकीय अवधारणा और यथार्थ', 'हिन्दी नाटक मिथक और यथार्थ' हैं जिनमें इनकी मिथकीय दृष्टि दिखाई देती है। इन्होंने मिथक को किसी भी देश अथवा जाति की सांस्कृतिक धरोहर माना है। सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति के रूप में ये मिथक निरन्तर शक्ति सम्पन्न होते जाते हैं। इनका मानना है कि अतीत, वर्तमान और भविष्य से युक्त होकर मिथक नयी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इस नवीन व्याख्या को कवि कल्पना से भी जोड़कर देखा है। मिथक के अर्थ को इन्होंने आदिम मनोवृतियों के पूँजीभूत रूप में मनुष्य की पहचान कराने वाले संवेदना के रागात्मक धरातल के रूप में ग्रहण किया। यही कारण है कि मिथक राष्ट्र या जातीय जीवन के अमूल्य रत्न हैं। साहित्य में मिथकीय प्रयोग के संदर्भ में प्रो. गौतम लिखते हैं-''मिथक का प्रयोग रचनाकार के लिए गंभीर चुनौती और सामाजिक-नैतिक दायित्व है। मिथक को स्वीकारने से पूर्व रचनाकार को उस मिथ-विशेष से संबंधित लोक-आस्थाओं एवं उसके स्रोत विशेष को जानना बेहद आवश्यक है। मिथक का क्षेत्र अपरिमित है। आदिमकालीन लोक आस्थाओं, वैदिक पौराणिक आख्यानों, किंवदंतियों एवं ऐतिहासिक-सांस्कृतिक घटनाओं के भीतर मिथक समाहित है। विशेष बात तो यह है कि मिथक देश-कालातीत हैं और वैश्विक धरातल पर सभी ऐतिहासिक, पौराणिक अथवा लोक-प्रचलित किंवदंतियाँ सृजन का आधार बन सकती हैं। किसी विशेष देश-काल में केवल ऐसे ही मिथक स्वीकार हो सकते हैं जो जन-मानसिकता में रचे-बसे हों, जिसकी ऐतिहासिक, पौराणिक प्रासंगिकता लोकायत में जानी और स्वीकारी जा सकती हो। यदि ऐसा नहीं है तो ऐसे मिथक अर्थ की जगह अनर्थ पैदा कर देते हैं।''[2] मिथक में व्यक्ति के आज को इंगित करने की क्षमता होती है। मिथक अतीत और वर्तमान के बीच सम्पर्क सूत्र का कार्य करते हैं और इस कड़ी (मिथक) के माध्यम से भविष्य को देखने की दृष्टि प्राप्त होती है। मिथक किसी भी राष्ट्र की सांस्कृतिक अस्मिता को बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये एक जाति या संस्कृति को दूसरी से भिन्न एवं विशिष्ट रखने का कार्य भी करते हैं। आदिम मानव का मस्तिष्क मिथकों का निर्माता है। प्राकृतिक शक्तियों के प्रति उसके कौतुहल, श्रद्धा और भयजनित भावों के परिणामस्वरूप मिथकों का निर्माण हुआ। प्रो. रमेश गौतम ने मिथक को आदिम मस्तिष्क का सृजन विज्ञान मानते हुए लिखा है—''मिथक की कल्पना आदि मानव के साथ जुड़ी है। आदिम युग में मनुष्य ने प्रकृति के सृजन और विनाश संबंधी परिवर्तित दृश्यों को देखते हुए उसके सौंदर्य से मुग्ध और विकराल रूप से त्रस्त होकर अपनी संपूर्ण भावात्मक और बौद्धिक क्षमताओं के साथ कुतूहलवश जिन श्रद्धा और भयजनित भावों की अभिव्यक्ति की होगी, संभवतः मिथकों की निर्माण प्रक्रिया वहीं से प्रारम्भ हुई होगी।''[3] हिन्दी साहित्यालोचना के क्षेत्र में मिथक से सम्बन्धित अपनी पुस्तक ''मिथकीय अवधारणा और यथार्थ'' में प्रो.गौतम ने मिथक की अवधारणा और यथार्थ से उसका सम्बन्ध बताते हुए उसके शब्दगत संदर्भो पर विस्तार से चर्चा की है—

मिथक सम्बन्धी आदिम अवधारणा—प्रो.रमेश गौतम ने मिथक की विकसनशील अवधारणा के साथ उसकी आदिम धारणा के सम्बन्ध में भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। मिथक के नृतत्वशास्त्रीय मत के साथ-साथ उसकी धर्म-विषयक अवधारण एवं भारतीय अवधारणा पर विस्तार से चर्चा की है। मिथक को आदिम मस्तिष्क का सृजन विज्ञान कहते हुए मनुष्य और प्रकृति के साथ उसके अटूट सम्बन्ध को स्वीकार किया है—''मिथक भी सार्वभौम जीवन की एक ऐसी ही अनुभूति है जिसमें मानव और प्रकृति के एकात्म्य की भावना मिली हुई है। अतः मिथक मनुष्य और प्रकृति की अभेद-चेतना से प्रेरित आदि मानव की अनुभूतियाँ हैं और उसका रूप कथा के माध्यम से स्पष्ट होता है।''[4] यही कारण है कि थोड़े-बहुत परिवर्तित रूपों में सृष्टि और मानव सभ्यता के विकास की कथाएँ सभी जातियों के धर्म ग्रन्थों और लोक गाथाओं में एक जैसी मिलती हैं। मिथकीय कथाएँ प्राकृतिक उपादानों के उद्घाटन एवं रहस्य के साथ ही जन्म लेती हैं। प्राकृतिक क्रिया-व्यापार किसी दैवीय अद्वितीय शक्ति से किसी भी रूप में कम नहीं हैं—सूर्योदय, सूर्यास्त, चंद्रोदय, बिजली का चमकना, कड़कना, बादलों का गर्जना और बरसना, वायु का तीव्र गति से बहना, विभिन्न ऋतुओं का परिवर्तन आदि प्रकृति के ऐसे ही दिव्य रूप हैं जिन्हें देखकर आदिम मानव के मन में कौतुहल उत्पन्न होता है और यही कौतुहल मिथक का रूप ग्रहण करता है।

मिथक सम्बन्धी नृतत्वशास्त्रीय मत—नृतत्वशास्त्र ऐसा विज्ञान है जिसमें मानव की उत्पत्ति के साथ-साथ उसके विकास का अध्ययन किया जाता है। इस मानव विज्ञान में उसकी आनुवांशिकी, सामाजिक, सांस्कृतिक पक्ष का वैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाता है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है—''वास्तव में प्रत्येक मानव जाति और संस्कृति के मिथकों में हम मानव के सतत सृजनशील मस्तिष्क का विकसित रूप पाते हैं। इसीलिए मिथकों की प्रवाहधारा में किसी भी राष्ट्र, जाति या संस्कृति के उदात्त मूल्यों, विश्वासों, आस्थाओं का संचरण आधुनिक जीवन धारणाओं तक में होता जा रहा है। मिथक की विकसनशील अवधारणा में मानव-विज्ञान के विचारकों का योग महत्त्वपूर्ण है।''[5] इस सम्बन्ध में उन्होंने टायलर, फ्रेजर, फिलिप व्हील राइट, लैवी स्ट्रास की नृतत्वशास्त्रीय अवधारणा को बताते हुए आदिम सभ्यता की मिथकीय परम्पराओं के विषय में बताया है। टायलर ने मनुष्य के स्वप्न बिम्बों द्वारा आत्मशक्ति के विचार ग्रहण पर बल दिया है। फ्रेजर प्रकृति को अलौकिक और दिव्य मानते हुए मानव और प्रकृति के मध्य सहभागिता और सहज सहानुभूति के सिद्धांत को मानते हैं। फिलिप व्हील राइट का कहना है कि मनुष्य और प्रकृति के मध्य केवल सम्पर्क और समानता का भाव नहीं होता है अपितु मनुष्य प्रकृति के प्रति भिन्नता और अपरिचय का भाव भी रखता है। क्लाड लैवी स्ट्रास ने मिथक को मानव संस्कृति के साथ जोड़कर देखा। यही कारण है कि मिथकों का सम्बन्ध आदिम सभ्यता के साथ जोड़कर देखा जाता है। इन सभी नृतत्वशास्त्रियों का अवधारणात्मक परिचय देते हुए प्रो. गौतम लिखते हैं कि विरुद्ध-युग्मों की अवधारणा जैसे-पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा, सुख-दुःख, युद्ध-शांति आदि प्रत्येक संस्कृति में दिखाई देते हैं। मानव की उत्पत्ति के साथ उसके विकासक्रम में इस तरह के विरोधी-युग्म उसके स्वाभाविक या नैसर्गिक आचार-विचार, व्यवहार से अस्तित्व में आये।

मिथक सम्बन्धी धर्म विषयक अवधारणा—धर्म और मिथक का गहरा सम्बन्ध है। अति प्राकृतिक क्रिया-कलापों को जिज्ञासापूर्ण दृष्टि से देखते हुए आदिम मानव ने ईश्वर रूपी शक्ति की कल्पना की। ईश्वरीय शक्तियों के प्रति श्रद्धानत आदिम मानव ने विधि-विधान से इनकी स्तुति करना आरंभ किया और यहीं से आदिम समाज में धार्मिक भावों का उदय हुआ। मौलिनोव्स्की ने धार्मिक मिथक को ही आदिम जातियों में मिथक का वास्तविक रूप माना है। प्रो. रमेश गौतम के अनुसार—''मिथक साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में अपने धार्मिक और प्रकृतिपरक रहस्यात्मक आवरण को त्याग कर अतीत और वर्तमान के धरातल पर सामाजिक जीवनानुभवों को व्यक्त है।''[6] इनके अनुसार पूर्व और पश्चिम के विद्वानों में मिथक और धर्म के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है। सभी की इस सम्बन्ध में भले ही व्यक्तिगत स्थापनाएँ हैं लेकिन सभी ने मिथक जन्म के साथ ही धार्मिक भावों का आरम्भ माना।

मिथक सम्बन्धी मनोविश्लेषणात्मक अवधारणा—मनोविज्ञान मूलतः मानव मन की क्रिया-प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण करने वाला शास्त्र है। मिथक का संबंध अलौकिक, असीम शक्ति से सम्पन्न देवी-देवताओं की कथा से है लेकिन फिर भी इन देवी-देवताओं में दिखलाई देने वाले मनोविकार न्यूनाधिक रूप में मानवीय है, ये चरित्र मानव सदृश गुणावगुणों से युक्त है। प्रो. गौतम ने इस सम्बन्ध में विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य आलोचकों की मिथक के सम्बन्ध में अवधारणाओं का परिचय देते हुए उसे सामूहिक अवचेतन की अभिव्यक्ति का माध्यम कहा। इनके अनुसार मिथक आदिम युग से मनुष्य की अवचेतन प्रक्रिया से जुड़कर सांस्कृतिक सन्दर्भों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं-''आज मिथक समूचे मानव-अनुभवों का अभिलेख बन गया है। अब यह कोरी कल्पना मात्र न होकर यथार्थ सम्मत समग्र मानव-दर्शन का पूँजीभूत रूप है जिसके द्वारा मानव भावनाओं से तादात्म्य स्थापन किया जा सकता है। मिथक रचना में सक्रिय सभी जातियों का मनोविज्ञान अपनी-अपनी देशकालगत सीमाओं के अंदर समग्र सांस्कृतिक संदर्भों को समेटते हुए जिस सामूहिक मन का निर्माण करता है, मिथक के माध्यम से उसकी प्रखर अभिव्यक्ति सभी जातियों के साहित्य में देखने को मिलती है।''[7] आदिम मानव की आकांक्षाओं और स्वप्नों को मिथक अभिव्यक्त करते हैं। युंग ने इसे ही आर्केटाइप या आद्यबिम्ब कहा है, यही कारण है कि मिथक आदिम मानव की सामूहिक अचेतन शक्ति के संचित आद्यबिम्ब कहलाते हैं।

मिथक सम्बन्धी समाजशास्त्रीय अवधारणा—समाजशास्त्रियों ने मिथकों की व्याख्या करते हुए इसका सम्बन्ध प्रकृति से न मानकर समाज से माना है। मिथक आदिम समाज की सृष्टि है। मिथक किसी भी समाज के अध्ययन में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। मिथक सामूहिक विश्वास और आस्था के रूप में साहित्य में स्थान पाते हैं इसलिए इन्हें कल्पना या मिथ्या नहीं कहा जा सकता है। प्राकृतिक क्रिया-व्यापारों के परिणामस्वरूप निर्मित होने पर भी मिथक निर्माण में समाज का विशेष महत्त्व है। मिथक पर विचार करते हुए प्रो. गौतम लिखते हैं कि विभिन्न विद्वानों ने इसे अनेक नामों से व्याख्यायित किया है। लोक कथा, लोक गाथा, पुरावृत्त, दंतकथा, धर्मगाथा, किंवदन्ती आदि शब्दों का प्रयोग मिथक के पर्याय रूप में किया जाता है। यह सत्य है कि मिथक में ये सभी शब्द न्यूनाधिक रूप में समाविष्ट हो जाते हैं। इसके साथ यह भी सत्य है कि इनमें से कोई भी शब्द एकांगी

रूप से मिथक को पूर्णतः व्याख्यायित नहीं कर सकता है-''मिथक संपूर्ण समाज के मस्तिष्क की उपज है जो व्यक्ति चेतना और सामूहिक (सामाजिक) चेतना के बीच संपर्क सूत्र का कार्य करता है। अतः मिथक सामाजिक चेतना से युक्त होते हैं। साहित्यिक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में वे अपने धार्मिक एवं प्रकृतिपरक रहस्यात्मक आवरण को त्यागकर अतीत और वर्तमान दोनों धरातलों पर सामाजिक जीवनानुभवों को व्यक्त करते हैं। आज किसी भी जाति की विभिन्न युगों में परिवर्तित विकसित सामाजिक भूमिका या उसकी सामाजिक चेतना को समझने के लिए मिथकों का अध्ययन-विश्लेषण अनिवार्य हो गया है क्योंकि आधुनिक धारणा के अनुसार मिथक केवल धर्म या अतीत का ज्ञान ही नहीं, बल्कि ये तो किसी भी संस्कृति की सामाजिक-आर्थिक अवस्थाओं और स्थितियों को अन्वेषित करने का सार्थक प्रयास है।''[8] दरअसल लोककथाएँ मिथकों में पाई जाती हैं लेकिन यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक मिथक में लोककथा प्रयुक्त हो। मिथक कथाओं में धर्मगाथा न्यूनाधिक रूप में समाविष्ट होती हैं लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वे मिथक का पर्याय हैं। मिथक के लिए दंतकथा, निजन्धारी, आख्यान शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है। वास्तव में ये सभी मिथक का अंश अवश्य हो सकते हैं लेकिन पूर्णतः मिथक को परिभाषित नहीं करते हैं। डॉ. अमरनाथ अपनी पुस्तक 'हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली' में मिथक के सम्बन्ध में लिखते हैं—''मिथक किसी भी संस्कृति की समझ और पहचान के लिये उपादेय हो सकते हैं, क्योंकि इनमें ज्ञानेंद्रियों के जटिल और वैविध्यपूर्ण आद्य अनुभव-पुंज निहित हैं। मानव समाज और उसके संस्थागत विकास-रूपों के अध्ययन में मिथकों का अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान है।''[9] मिथकों का अपना एक सामाजिक पक्ष होता है जिसके माध्यम से वे सदैव नये अर्थ देने की संभावनाएँ रखते हैं। प्रो. गौतम सामाजिक विश्वास को मिथक की सबसे बड़ी शक्ति मानते हुए उसे कपोल कल्पना या गप्प न कहते हुए मिथक को स्वीकृत सामाजिक सत्य माना है।

मिथक की इतिहास सम्बन्धी अवधारणा—वैज्ञानिक युग में भाववाद का स्थान बुद्धिवाद ने ले लिया है। ऐसे युग में युद्ध, निराशा, संत्रास, अजनबीपन मनुष्य की प्रमुख समस्याएँ है। ऐसी परिस्थितियों में साहित्यिक क्षेत्र में रचनाकार मिथकों के प्रयोग में मौलिकता लाकर उनमें नयापन लाता है। आज की वैज्ञानिक उपलब्धियों और भोगवादी समाज के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि वर्तमान संस्कृति मानवीय अस्तित्व के विनाश की संस्कृति है। हिन्दी साहित्य के आरम्भ से ही मिथकीय प्रसंगों का नये संदर्भो में प्रयोग हो रहा है। कोई भी रचनाकार अपने समय की परिस्थितियों को अनदेखा करके साहित्य रचना का काम नहीं कर सकता है। विशेष परिस्थितियों में इतिहास भी मिथक बन जाता है। मिथक के सम्बन्ध में ऐतिहासिक अवधारणा के विषय में प्रो. गौतम लिखते हैं—''मिथकशास्त्र अतीत का विज्ञान है और मिथक इतिहास का अन्तःकरण। मिथकों में इतिहास एवं प्राक् इतिहास की शक्तियाँ हमेशा से गतिशील रही हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से मिथक को अतीत में घटित वास्तविक घटना के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि इस तथ्य में तनिक भी सन्देह नहीं होना चाहिए कि हम मिथकों में अपने इतिहास को खोज सकते हैं और हमारे देश में इस धारणा का भी पूर्ण विकास है कि पुरावृत्तों में प्राचीन इतिहास के तथ्य इतने घुलमिल गये हैं कि उनको पृथक करना प्रायः असम्भव हो गया है।''[10] इतिहास हमारे लोक मन से बँधा हुआ है। इन्होंने मिथक को किसी जाति के इतिहास का अन्तःकरण की संज्ञा दी है। इतिहास की अपेक्षा मिथक की दृष्टि अधिक व्यापक है। इतिहास की घटनाओं से अधिक व्यापक मिथक की केन्द्रीय चेतना को माना। मिथक में निहित जीवन स्थितियों और मानवीय संवेदनाओं को उन्होंने इतिहास की घटनाओं से अधिक यथार्थ माना।

प्रो. रमेश गौतम ने मिथक को हर परिप्रेक्ष्य में यथार्थ से जोड़कर देखा। मिथकीय प्रयोग में यथार्थ दृष्टि किसी भी रचनाकार के लिए आवश्यक है। धार्मिक आस्था से जुड़े होने के कारण ये सांस्कृतिक चेतना को निर्बाध गति से साथ लिए निरंतर आगे बढ़ते दिखाई देते हैं। लोक संस्कार की छाप लिये ये प्रतीकात्मक रूप में साहित्य में प्रयुक्त होते हैं। किसी भी देश या समाज की जातीय सांस्कृतिक अस्मिता के वाहक होते हैं। मिथक और समाज में घनिष्ठ सम्बन्ध है। मिथक निर्माण में जन मानस की भावनाएँ, लोक विश्वास, सांस्कृतिक आस्थाएँ, कल्पना आदि की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। विश्व के प्रत्येक समाज में समय-समय पर मिथकों का निर्माण हजारों वर्षो से हो रहा है। इनमें अर्थो की नई संभावनाएँ सदैव विद्यमान रहती हैं। अपने वर्तमान संदर्भो को व्याख्यायित करने के लिए रचनाकार अतीत से मिथकीय पात्रों, घटनाओं और स्थलों को चुनता है और उनके मौलिक प्रयोग द्वारा उन्हें प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि मिथक में किसी भी समाज के समय को व्याख्यायित करने की शक्ति होती है। मिथक आदिम मानव द्वारा रचा गया ऐसा संसार है जिसमें हमारे भूत, वर्तमान और भविष्य को इंगित करने की अद्भुत क्षमता है। परिवर्तित युग संदर्भो में मिथक युगानुकुल व्याख्यायित होते हैं। मिथक कथाओं के माध्यम से विशिष्ट सन्देश भारतीय जनमानस को दिया जाता है। अपने परिवेश से जुड़कर रचनाकार अपनी युगीन समस्याओं को मिथकों के माध्यम से उद्घाटित करता है। मिथक को एक प्रासंगिक सत्य मानते हुए प्रो. रमेश गौतम मिथक का मूल स्रोत अध्यात्म संसार मानते हैं। विभिन्न महान व्यक्तित्वों की जो अमिट छाप भारतीय जन मानस में है वह किसी भी देश के अतीत गौरव की पहचान कही जा सकती है।

संदर्भ :

1. मिथकीय अवधारणा और यथार्थ : डा. रमेश गौतम : राधारानी प्रकाशन, 1997: पृ. 12
2. रंगानुभव के बहुरंग : रमेश गौतम : स्वराज प्रकाशन, 2006: पृ.227
3. मिथकीय अवधारणा और यथार्थ : डॉ. रमेश गौतम : राधारानी प्रकाशन, 1997: पृ. 16
4. वही, पृ. 17
5. वही, पृ. 20
6. हिन्दी नाटक मिथक और यथार्थ, ''डॉ. रमेश गौतम : पृ. 40
7. मिथकीय अवधारणा और यथार्थ : डॉ. रमेश गौतम : राधारानी प्रकाशन, 1997: पृ. 33-34
8. वही, पृ. 34
9. हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली : डा. अमरनाथ : पृ. 282
10. हिन्दी नाटक मिथक और यथार्थ : डा. रमेश गौतम : पृ. 49

असिस्टेंट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
दौलत राम महाविद्यालय

●

रमेश गौतम की नाट्य-आलोचना दृष्टि

प्रवीण भारद्वाज

नाटक एक ऐसी विधा है जो अपनी प्रकृति में विशिष्टतम है। भरत मुनि के अनुसार, ''न ऐसा कोई ज्ञान है न शील न विद्या है न ऐसी कोई कला है ना कोई योग है ना कोई कार्य ही है जो इस नाटक में प्रदर्शित न किया जाता हो"

उनका यह कथन आज भी अपना विशेष स्थान बनाने में सक्षम है। नाटक के संदर्भ में नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि की दृष्टि की विवेचना करना आवश्यक है क्योंकि भारत की जिन अन्य भाषाओं में (उदाहरणार्थ हिन्दी, बांग्ला, मराठी, गुजराती आदि में) काव्यशास्त्र का प्रतिपादन अथवा विवेचन किया गया है उनमें संस्कृत काव्यशास्त्र के ही मूल सिद्धांतों को अपनाया गया है तथा वहीं से विपुल सामग्री ग्रहण की गयी है।

पाणिनी नाटक की उत्पत्ति 'नट्' धातु से मानते हैं। माकण्ड का मत है कि नृत् धातु बहुत प्राचीन है और नट् का प्रचलन अपेक्षाकृत कम पुराना है। दशरूपककार ने नृत्त, नृत्य और नाट्य का अंतर स्पष्ट किया है। नृत्त ताल के आश्रित होता है, नृत्य भावाश्रित होता है किंतु नाट्य रसाश्रित होता है। इस प्रकार गंभीरता से विचार करने पर नृत्त और नृत्य नाट्य की ही दो प्रथम भूमिकाएँ प्रतीत होती हैं।

आधुनिक साहित्य के प्रारंभ में जब हम नाटक के उदय का विवेचन करते हैं तब यह ध्यान देने योग्य बात है कि आधुनिक गद्य साहित्य की परंपरा का प्रवर्तन भी नाटकों से ही हुआ है। हिन्दी नाटकों का प्रारंभ लोकनाट्य से माना जाता है क्योंकि हिन्दी के प्रारंभिक नाटकों पर रासलीला एवं नौटंकी की लोकनाट्य शैलियों का प्रभाव देखते ही बनता है।

भारतेंदु युग के नाटककारों ने नाटक को सामाजिक चेतना को जागृत एवं प्रसारित करने का अस्त्र बनाया।

नाट्य शास्त्रीय विधानों को ध्यान में रखकर देखें तो 'नहुष' हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक नाटक है जिसे भारतेंदु के पिता गोपाल चंद्र (गिरधर दास) ने सन 1851 में लिखा। इसके उपरांत तो जैसे हिन्दी नाटकों का भाग्य ही उदित हो गया। भारतेंदु द्वारा रचित 'विद्या सुंदर', 'सत्य हरिश्चंद्र', 'विषस्य विषमौषधम्', 'भारत दुर्दशा 'नील देवी', 'प्रेम योगिनी', 'सती प्रताप' आदि नाटक विविध युगीन परिस्थितियों से ओत प्रोत थे। भारतेंदु के साथ उस युग में श्रीनिवास दास का 'रणधीर और प्रेम मोहिनी', 'संयोगिता स्वयंवर,' रायकृष्ण दास का 'दुखनी बाला', 'पद्मावती' आदि नाटकों की रचना हुई।

भारतेंदु युग के उपरांत नाटक का पुनः अपकर्ष हुआ। भारतेंदु और प्रसाद के समय के बीच में अर्थात् द्विवेदी युग में बद्रीनाथ भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी, गोविंद बल्लभ पंत, मैथिली शरण गुप्त आदि ने उपदेशात्मकता के स्थान पर साहित्यिकता और कलात्मकता को अपने नाटकों में स्थान दिया।

जयशंकर प्रसाद का आगमन हिन्दी नाटक साहित्य में युगांतर का सूचक है। उनके 'राज्यश्री', 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'स्कंदगुप्त', 'चंद्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक हैं। उनके ऐतिहासिक नाटकों में अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान समस्याएँ दृष्टिगत होती हैं। प्रसाद—उत्तर युग में सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी हैं। उनके 'रक्षाबंधन', 'शपथ', 'आहुति', 'प्रतिशोध', 'विदा' श्रेष्ठ ऐतिहासिक नाटक हैं। प्रेमी जी की अतिरिक्त उदय शंकर भट्ट, जगदीश चंद्र माथुर, वृंदावन लाल वर्मा, गोविंद बल्लभ पंत ने भी ऐतिहासिक नाटकों की रचना की है।

नाटक की आलोचना करते समय नाट्यालोचक को बहुत-सी बातों को ध्यान में रखना पड़ता है, नाटक के अंतर्गत समाहित कथावस्तु की पृष्ठभूमि की विवेचना नाट्यालोचक को करनी होती है। यदि कोई नाटक ऐतिहासिक है और उसके पात्रों के चरित्रांकन में कल्पना का सहारा लिया गया है तो उसकी मौलिकता एवं रोचकता के संतुलन का आकलन करना आवश्यक हो जाता है। नाटक की रंगमंचीय अनुकूलता को भी स्पष्ट करना एक नाट्यालोचक का कर्तव्य होता है। कथानक के पारंपरिक सूत्रों को जोड़ने के लिए उपक्रम-उपकथन का विशिष्ट प्रयोग नाटककार द्वारा किया जाता है जिससे नाटक सुगठित रूप से मंच के अनुकूल बनता है। कभी-कभी नाटक की कथावस्तु यदि दीर्घ अनेकांकी और अनेक दृश्यों वाली होने के कारण इसका मंचन दुसाध्य हो जाता है और लंबे नाटक को देखने का धैर्य प्रायःदर्शकों में नहीं मिलता है। इन सभी तथ्यों को नाट्यालोचक उजागर करता है। घटनाओं की सुसंबद्धता से नाटक में रोचकता और कौतूहलता दोनों बनी रहती है। एक आलोचक, आलोच्य नाटक की कथावस्तु का सम्यक अनुशीलन कर उसे स्पष्टीकरण प्रदान करता है।

नाटक की सफलता का आधार एवं आकलन उसकी रंगमंचीयता पर निर्भर होता है। लेकिन रंगमंच युग पर निर्भर करता है क्योंकि युग विशेष की जन रुचि में निरंतर परिवर्तन होता रहता है और उस परिवर्तन की पृष्ठभूमि में तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था प्रमुख रूप से कार्य करती है। नाट्य आलोचना के आधार स्तंभ प्रोफेसर रमेश गौतम रंग कर्म को नाटककार और दर्शक के बीच का माध्यम मानते हैं। जिसका नेतृत्व निर्देशक अथवा सूत्रधार के हाथों में होता है। इस प्रकार उनके विचार में रंग संप्रेषण में नाटककार, निर्देशक (रंग कर्म) और दर्शक ये तीन घटक प्रमुखता से कार्य करते हैं। इन तीनों से गठित संप्रेषण से जो बहुआयामी स्वरूप प्रकट होता है वास्तव में वही रंग भाषा के व्यक्तित्व को निर्मित करता है। प्रोफेसर गौतम के अनुसार यदि एक नाटककार अपने दर्शक को सांस्कृतिक आनंद प्रदान करने की आशा रखता है तो लेखक, निर्देशक और अभिनेता की कलात्मक क्षमताओं का एकीकरण ही संप्रेषण कौशल को मजबूत बनाता है।

यही सामूहिक संप्रेषण कौशल ही रंग भाषा है।

प्रोफेसर रमेश गौतम मानते हैं कि परिवेश का सच्चाई, यथार्थ की मजबूत पकड़ और वातावरण विज्ञान की जितनी समझ भारतेंदु हरिश्चंद्र की थी उतनी शायद ही किसी अन्य हिन्दी रंगकर्मी की रही हो।

भारतेंदु युगीन समाज सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़ियों की अति का समाज था। उसमें विधवा विवाह, बेमेल विवाह, बाल विवाह जैसी वैवाहिक रूढ़ियाँ जहाँ एक ओर सशक्त थी वहीं दूसरी ओर स्त्री शिक्षा, नारी को उपेक्षित समझने के कारण शून्य थी।

प्रोफेसर गौतम के अनुसार भारतेंदु जब जन जीवन की भाषा को लेकर साहित्य और चिंतन को नये उन्मेष के साथ प्रकट करते हैं तब उनका साहित्य उस युग की जीवंत समस्याओं के प्रति जनमानस को प्रबुद्ध एवं जागरूक करने का अग्रणी माध्यम बनता है। भारतेंदु की नाट्यधर्मिता और रंग चेतना लोकधर्मिता से अटूट रूप से जुड़ी हुई है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अंधेर नगरी', 'नील देवी', तथा 'भारत दुर्दशा' आदि नाटकों में उन्होंने देश की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक व आर्थिक क्षेत्र से संबंधित समस्याओं को गंभीरता के साथ प्रस्तुत किया है। प्रोफेसर गौतम ने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' की समीक्षा करते हुए कहा कि भारतेंदु ने अपने समकालीन युग के सत्य को सीधे-सीधे ने कहकर मिथकीय तंत्र का सहारा लिया, जिसका प्रमुख कारण उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक आतंक को माना। पुरोहित, राजा, मंत्री, यमराज आदि को सूची मुख नरक, कुम्भी पाक, नरक आदि पात्रों के माध्यम से उन्होंने बड़ी ही प्रखरता के साथ व्यक्त किया। प्रोफेसर गौतम के अनुसार मिथकीय तंत्रो के माध्यम से जनजीवन के लिए सांकेतिक अर्थ, जनजीवन की रूढ़िगत चिंतन परंपरा को बदलने के लिए आवश्यक था।

प्रोफेसर गौतम भारतेंदु हरिश्चंद्र के 'भारत दुर्दशा' नाटक के विषय में लिखते हैं कि इस नाटक के सभी पात्र प्रतीकात्मक हैं। भारत दुर्दैव दो दुर्भाग्यों का सूचक है पहला दुर्भाग्य है—यवन और दूसरा दुर्भाग्य है—अंग्रेज। इस नाटक में तत्कालीन जीवन की हर युगीन स्थिति की यथार्थ छवि को अंकित किया गया है।

जयशंकर प्रसाद के नाटकों के विषय में प्रोफेसर रमेश गौतम अपने 'प्रसाद के नाटकों की रेंज' लेख में लिखते हैं-

"देशकाल परिसीमन तथा भारतबोध के साथ विश्व बोध की दृष्टि से जयशंकर प्रसाद का चिंतन, संवेदन और सृजन बहुत गहरा है। उनके नाटकों की मूल्य व्यवस्था 'हिंदुस्तानी' भी है और 'इंसानी' भी। साहित्यकार राष्ट्रीय और इंसानी एहसास को जगाता भी है और जिंदा भी रखता है, यही जागरण और पुनर्जागरण है और इसी रूप में आज हमें जागरण और पुनर्जागरण की उस ऐतिहासिक दृष्टि का विकास करना चाहिए, जिसमें जयशंकर प्रसाद की रचनात्मक भूमिका बनी।"

प्रोफेसर गौतम ने प्रसाद के नाटक 'चंद्रगुप्त' को भारतीय विराट चिंतन परंपरा में 'वसुधैव कुटुंबकम' के दृष्टिकोण से व्यक्त किया है। उनका मानना है कि 'चंद्रगुप्त' में कार्नेलिया का चरित्र प्रसाद की विश्व दृष्टि का द्योतक है क्योंकि यूनानी सेनापति सेल्यूकस की पुत्री कार्नेलिया भारतवर्ष को 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' मानती है। चंद्रगुप्त और कार्नेलिया का परिणय वास्तव में दो सभ्यताओं और संस्कृतियों का 'कुटुंब भावना' में बंधना है। कार्नेलिया का यह कहना

'ग्रीक लोग केवल देश को विजय करके समझ लेते हैं कि लोगों के हृदय पर भी अधिकार कर लिया।' भारतीय सभ्यता का दूसरे को सहर्ष आत्मसात् करने की श्रेष्ठता का द्योतक है। भारतीय संस्कृति स्त्री सम्मान को प्रमुखता देती है और प्रोफेसर रमेश गौतम ने बताया है कि 'चंद्रगुप्त' नाटक में भी कार्नेलिया-फिलिप्स प्रकरण में यौन शोषण की पश्चिमी भोग दृष्टि के खिलाफ स्त्री-सम्मान के उसी भारतीय मूल्य की प्रतिष्ठा हुई है। प्रसाद, भारत जब अंग्रेजों के अधीन था उस समय नाटक लिख रहे थे और स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भी जब राष्ट्र में लोकतंत्र के गठन की बात आती है तब प्रोफेसर गौतम की मान्यता है कि प्रसाद के नाटक 'चंद्रगुप्त' में चंद्रगुप्त के राजा बनने के साथ-साथ एक लोकतांत्रिक आदर्श राज्य व्यवस्था के गठन को चाणक्य ने प्रथम वरीयता दी है। उनका मानना है कि ऐसा करके प्रसाद ने भीषण अराजकता पूर्ण तानाशाह राज्य व्यवस्था को दरकिनार किया है तथा लोक कल्याण को, प्रजा हित को सर्वोपरि माना है। दलित राजनीति के विषय में प्रोफेसर गौतम लिखते हैं—

"दलित राजनीति का वर्तमान संदर्भ और उसके राष्ट्रीय संकट का समाधान भी प्रसाद के 'चंद्रगुप्त' में मौजूद है। पर्वतेश्वर और सिंहरण जैसे सशक्त विकल्प उपलब्ध होने पर भी आज की दूषित राजनीतिक शब्दावली में 'मनुवादी ब्राह्मण' चाणक्य निम्न जाति का कहे जाने वाले चंद्रगुप्त में क्षत्रियोचित गुणों को देखकर उसे ही राजजन्य संस्कृति के प्रतिनिधि के रूप में जन नेतृत्व के लिए मनोनीत करता है। प्रसाद की यह चिंतन दृष्टि अपने समय में बड़ी दायित्वपूर्ण और दूरगामी महत्त्व की थी, जिसे आज आसानी से समझा जा सकता है।

प्रोफेसर रमेश गौतम की प्रसाद के नाटक 'चंद्रगुप्त' की नाट्य आलोचना तत्कालीन समय में उसकी प्रासंगिकता को उजागर करती है। उनकी दूरगामी सोच है कि आज पुनः देश विघटन की स्थिति से गुजर रहा है। देश की अखंडता, कट्टर सांप्रदायिक शक्तियों के कारण निरंतर जर्जर होती जा रही है। अतः आज भी चाणक्य जैसी चातुरी, चंद्रगुप्त जैसी तेजस्विता की आवश्यकता है। सिंहरण की यह उद्घोषणा फिर जरूरी हो उठी है कि 'मेरा देश मालव ही नहीं गांधार भी है, बल्कि समस्त आर्यावर्त है'।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास- रामस्वरूप चतुर्वेदी
2. हिन्दी साहित्य कोश भाग 1 पारिभाषिक शब्दावली प्रधान संपादक धीरेंद्र वर्मा तृतीय संस्करण 1985
3. हिन्दी रंग भाषा, स्वरूप और विकास -प्रोफेसर रमेश गौतम
4. रंगानुभव के बहु रंग - प्रोफेसर रमेश गौतम

असिस्टेंट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
शिवाजी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

●

दिल्ली की हिन्दी रंग-पत्रकारिता

प्रतिभा राणा

शोध सारांश

स्वतंत्रता के पश्चात हमारे जीवन में जो नयापन आया, उसने जीवन और जीवन से जुड़ी तमाम चीज़ों को नये ढंग से परिभाषित किया। इस दौर में भारतीय रंगमंच में भी बदलाव आया फलस्वरूप भारतीय रंगमंच ने आन्दोलन का रूप लेकर अनेक पहलुओं पर पुनर्विचार आरंभ कर दिया। पारंपरिक रंगमंच से प्राप्त अनेक शैलियों और तत्वों की खोज और पुनर्विचार से भारतीय रंगमंच की अपनी एक नयी पहचान बननी शुरू हो गयी।

रंगमंचीय चेतना को राष्ट्रीय स्तर पर पहुँचाने में दिल्ली ने केंद्रीय भूमिका निभाई। उसकी इस भूमिका में पत्रिकाओं के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। इस शृंखला में 'हिन्दुस्तानी थियेटर', 'नटरंग', 'रंग-प्रसंग', 'बहरूप', 'इम्पैक्ट', 'अभिनय', 'अन्तर्देशीय नाट्यपत्र', 'रंगमाया-फिल्ममाया', 'समकालीन रंगमंच' आदि पत्रिकाओं की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। दिल्ली रंगमंच और राष्ट्रीय रंगमंच के जरूरी प्रश्नों से ये पत्रिकाएँ अपनी सामग्री, समीक्षा, चर्चा-विमर्श और लेखों के माध्यम से जुड़ी हैं। चूंकि रंगमंच जीवंत अनुभूति के साथ एक अल्पजीवी कला भी है इसलिए किसी भी रंगमंच का इतिहास लिखने के लिए पत्र-पत्रिकाएँ ही आधारभूमि बनती हैं। नाट्य इनके माध्यम से विभिन्न रंगप्रयोगों की जो जानकारी मिलती है उसकी मदद से हिन्दी रंगमंच के क्रमिक विकास को समझा जा सकता है।

बीज शब्द : दिल्ली, रंग पत्रकारिता, स्वातंत्र्योत्तर रंग परिवेश, नाट्य आलोचना, प्रदर्शनकारी कलाएं, नाट्य पत्रिकाएँ, नाट्य संस्थाएँ, शौकिया रंग मंडलियाँ

प्रस्तावना

स्वाधीनता से पहले भारतेंदु युग से ही रंग पत्रकारिता के प्रति सजगता स्पष्ट दिखती है। रंग समीक्षक डॉ. महेश आनंद ने इस युग के संदर्भ में लिखा है-"जब भी कोई उत्तेजक नाटक छपता अथवा मंचित होता तो यह सूचना पत्र-पत्रिकाओं के लिए महत्त्वपूर्ण बन जाती थी। संपादक इस सूचना को पाठकों तक पहुँचाने के लिए छोटी-बड़ी टिप्पणियाँ लिखते थे। अपनी कमजोर आर्थिक स्थिति और सरकारी दमन के बावजूद संपादकों ने इस पत्रिका को जो विश्वसनीयता प्रदान की, उसका सबसे बड़ा कारण यही था कि उनके लिए पत्रकारिता व्यवसाय नहीं, एक मिशन था।"[1]

स्वाधीनता के बाद बनी नई परिस्थितियों में वर्ष 1953-54 के आस-पास अनेक सम्मेलनों का आयोजन किया। इन सम्मेलनों में प्रदर्शनकारी कलाओं के उत्थान के लिए अनेक योजनाएँ बनाई गई जिससे रंगमंच, संगीत, नृत्य, चित्रकला आदि कलारूपों के लिए अनेक संस्थाओं की नींव पड़ी। फलस्वरूप राजधानी दिल्ली में संगीत नाटक अकादमी (1953), भारतीय नाट्य संघ (1954) एवं राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (1959) जैसी महत्त्वपूर्ण संस्थाओं की स्थापना हुई। हालांकि इन संस्थाओं की स्थापना से पहले ही दिल्ली में वर्ष 1936 से 'ऑल इंडिया रेडियो' सक्रिय था। इसके अलावा दिल्ली की पहली सांस्कृतिक संस्था मानी जाने वाली 'ऑल इंडिया फाइन एन्ड क्राफ्ट्स सोसायटी) सांस्कृतिक परिदृश्य का निर्माण करने में पहले से ही जुटी हुई थी। इसी दौर में 'भारतीय कला केन्द्र' और 'गंधर्व महाविद्यालय' प्रकाश में आये। कुल मिलाकर इन माध्यमों से जुड़े अनेक रचनाकारों ने दिल्ली की सांस्कृतिक लहर को बढ़ाया और इस नये परिवेश में दिल्ली सांस्कृतिक गतिविधियों का केंद्र बनकर उभरी।

राजधानी दिल्ली और उसके रंगमंच की बात की जाए तो आजादी के प्रारंभिक वर्षो के बाद सातवें-आठवें दशक में उभरी शौकिया रंगमण्डलियों को, उनके योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। इन रंगमण्डलियों के कारण ही ये दशक महत्त्वपूर्ण बने हैं जिसमें नया थियेटर (हबीब तनवीर), दिशांतर (ओम शिवपुरी) और 'अभियान' (राजिन्दर नाथ) ने उल्लेखनीय प्रस्तुतियाँ दी हैं जिसे इन रंगमंडलियों द्वारा प्रकाशित स्मारिकाओं /ब्रोशर्स के माध्यम से जाना जा सकता है।

दिल्ली के बनते रंग परिदृश्य को पत्रिकाओं के माध्यम से समझने की कोशिश करें तो पायेंगे कि वर्ष 1963 से पहले दिल्ली रंगमंच की अपनी कोई हिन्दी नाट्य पत्रिका थी ही नहीं। रंग गतिविधियों की जानकारी साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही मिलती थी। हालांकि अंग्रेजी की कुछ नाट्य पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रहीं थीं लेकिन हिन्दी रंगमंच पर हिन्दी माध्यम से बात करने वाली किसी हिन्दी नाट्य पत्रिका का तो अभाव ही था। अनेक संस्थाओं और शौकिया मंडलियों ने दृश्य माध्यम द्वारा जो रंगचेतना जगाई उसे विस्तार पत्रिकाओं ने ही दिया। अपने लिखित रूप में ये सामग्री एक दस्तावेज का काम करती है। कह सकते हैं कि नाट्य पत्रिकाओं के माध्यम से दिल्ली की रंग पत्रकारिता को बल मिला।

लेख

दिल्ली की रंग पत्रकारिता में नाट्य पत्रिकाओं की उल्लेखनीय भूमिका है। दिल्ली के रंग वातावरण को उभारने में पत्रिकाओं की विशेष भूमिका रही है लेकिन उससे पहले इस रंग वातावरण को निखारने का काम दिल्ली की सरकारी, गैर सरकारी, अर्द्ध सरकारी एवं शौक़िया मंडलियों व संस्थाओं ने किया है। यही वजह है कि दिल्ली की साहित्यिक व नाट्य पत्रिकाओं ने इन संस्थाओं को अपनी मुख्य सामग्री का आधार बनाया है।

दिल्ली में नाट्य पत्रिकाओं की शुरुआत 1963 में प्रकाशित पत्रिका 'हिन्दुस्तानी थियेटर' से मानी जा सकती है। दिल्ली के साठोत्तरी

रंगमंचीय विकास को उभारने में इसका उल्लेखनीय योगदान है। 'हिन्दुस्तानी थियेटर' पत्रिका को आज़ादी के बाद की दिल्ली की पहली नाट्य पत्रिका माना जा सकता है। कुशल सम्पादक मंडल (शमा ज़ैदी/ओ.पी.कोहली/एम.एम.मुदुर) के नेतृत्व में यह पत्रिका मासिक रूप में जनवरी-फरवरी 1963 से प्रकाशित होना आरम्भ हुई। हालांकि यह पत्रिका अल्पकालीन रही लेकिन महत्त्व की दृष्टि से इसका प्रत्येक अंक विशेषांक जैसा ही है। इनमें से ब्रेख्त (जनवरी-फरवरी 1963) विशेषांक के माध्यम से ब्रेख्त के एपिक थियेटर और उनकी कविताओं को समझने का मौका तो मिलता ही है साथ में उनके नाटक 'कॉकेशियन चॉक सर्किल' से जुड़े विलियम गास्किल के रंग-अनुभव भी अन्य रंगकर्मियों के लिए उपयोगी हैं।

तभी 'हिन्दुस्तानी थियेटर' पत्रिका द्वारा राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (खंड-1, संख्या-3, मार्च 1963) अंक में इस संस्था की गतिविधियों पर प्रमुखता से ध्यान केंद्रित किया गया। वर्ष 1959 से 1963 तक विद्यालय में मंचित नाटकों की सूची, 'एन्टीगोंन', 'बिच्छु' और 'आषाढ़ का एक दिन' नाटकों की प्रस्तुति समीक्षा, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के छात्रों के भविष्य पर लेख आदि के माध्यम से गम्भीर चर्चा दिल्ली के बन रहे रंग-परिवेश पर मिलती है।

इसका लोकनाट्य (खंड-1, संख्या 6-7-8, जून-जुलाई-अगस्त 1963) से सम्बंधित अंक विशेष है। इसमें नौटंकी की वेशभूषा , संगीत और अभिनय पर भी ध्यान दिया गया और 'इन्दरसभा' नाटक का नये रूप में अध्ययन आदि पर विचार-विमर्श है। हालांकि इस पत्रिका के प्रकाशन पर 1964 में ही विराम लग गया था लेकिन दिसंबर 1972 में बेग़म कुदसिया ज़ैदी पर केंद्रित एक अंक प्रकाशित किया गया था, इस अंक में 'शकुंतला' और 'मिट्टी की गाड़ी' नाटकों की प्रस्तुति पर शमा ज़ैदी की महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ हैं। संक्षेप में 'हिन्दुस्तानी पत्रिका' के माध्यम से दिल्ली में बन रहे आधुनिक रंगमंच और लोक रंगमंच के विकास को समझा जा सकता है।

दिल्ली की रंग पत्रकारिता की विधिवत शुरुआत 'नटरंग' पत्रिका (त्रैमासिक जनवरी-1965) से मानी जा सकती है। प्रसिद्ध रंग समीक्षक नेमिचन्द्र जैन इसके संपादक थे। नटरंग पत्रिका का उदय उस वक्त हुआ जब नाट्य समीक्षा पर कोई बात नहीं हो रही थी। कुछ समीक्षाएँ जो कभी-कभार छप जाती थीं उनमें भी गम्भीरता का अभाव था। ऐसे समय 'नटरंग' का आगमन भारतीय रंगमंच, रंग-आन्दोलन एवं हिन्दी रंगमंच के लिए ऐतिहासिक घटना के रूप में रहा। इस पत्रिका ने ही पहली बार नाट्य विवेचना में उस रंगबोध का परिचय दिया जिसमें नाटक के कथ्य के साथ-साथ प्रयोग पक्ष पर भी चर्चा हुई। इसी रंगबोध के कारण पाठक दर्शक बना और फिर दर्शक से प्रेक्षक। एक तरह से 'नटरंग' पत्रिका ने नाट्य समीक्षा के नये प्रतिमान बनाये। इसने नाटक के स्थूल साहित्यिक तत्वों की निरर्थकता को रेखांकित करते हुए शिल्प पक्ष के महत्त्व को उजागर किया है। इसने अपने प्रवेशांक में ही जड़भाषा और पारम्परिक ढाँचे को गैरजरूरी मानते हुए समस्त रंग प्रक्रिया के द्वारा नाटक या नाट्य को परिभाषित करने के प्रयास पर ध्यान दिया है। 'नटरंग' ने केवल आधुनिक ही नहीं संस्कृत और पारम्परिक नाट्यरूपों के अध्ययन को सही परिभाषा देते हुए नयी प्रदर्शनशैली में तलाशने की कोशिश की है। नटरंग प्रतिष्ठान के साथ यह पत्रिका आज भी सक्रिय है। प्रतिष्ठान की वेबसाइट पर इसके बारे में सही लिखा है—"रंगमंच में गतिविधियों और विचारों के विकास और दस्तावेज़ीकरण के लिए समर्पित अपनी तरह की एकमात्र पत्रिका है। नटरंग एकमात्र थिएटर त्रैमासिक पत्रिका भी है जो 50 से अधिक वर्षों से चल रही है और समकालीन रंगमंच पर सूचना, संवाद और बहस के लिए अखिल भारतीय मंच प्रदान करती है। यह पत्रिका उन सभी लोगों के लिए एक महत्त्वपूर्ण संदर्भ पुस्तिका है जो यह जानना चाहते हैं कि हिन्दी रंगमंच, अन्य भारतीय भाषाओं के रंगमंच और वास्तव में दुनिया में क्या हो रहा है।"[2]

'नटरंग' के सम्पादक नेमिचन्द्र जैन के सम्पादकीय किसी स्वतन्त्र लेख से कम नहीं है। इन सम्पादकीयों में उन्होंने गम्भीरता से नाटक एवं रंगमंच के महत्त्वपूर्ण पक्षों पर विचार-विमर्श किया है। इन सम्पादकीय लेखों ने भी आलोचना को एक सरल, सुबोध एवं सर्जनात्मक भाषा दी है। उल्लेखनीय सम्पादकीयों में सार्थकता की खोज (अंक 2, 1965), समकालीन भारतीय रंगमंच (अंक 4, 1965), नाट्य समीक्षा का सवाल (अंक 10-11, 1969), बालरंगमंच की सार्थकता (अंक 13, 1970), हिन्दी के नाटक या हिन्दी में नाटक (अंक 36, 1980), नाट्यभाषा के आयाम (अंक 43, 1984), नाट्य की स्वतंत्र भाषा (अंक 45, 1985), हिन्दी नाटक की भाषा (अंक 63, 1998), इत्यादि को गिना जा सकता है।

नटरंग में प्रकाशित समीक्षाएँ नाट्यालोचना का मजबूत आधार बनीं जिससे 'नटरंग' हिन्दी नाट्य पत्रिकाओं की पुरोधा बन सकी। इसने नाट्य समीक्षा के प्रतिमानों को लेकर नाट्य समीक्षा पर बहस की शुरूआत हुई। प्रसिद्ध रंगकर्मियों द्वारा की गई ये समीक्षाएँ हिन्दी रंगमंच की सीमाओं एवं सम्भावनाओं एवं प्रस्तुतियों पर सटीक टिप्पणी करती हैं। समीक्षाओं के साथ 'नटरंग' के अब तक प्रकाशित अंकों में नाटक और रंगमंच की विविध रंगी दुनिया को एक हद तक उसकी समग्रता में समेटने की कोशिश की है। 'परिसंवाद' में गंभीर विषयों पर विचार, 'नाट्यवृत' में प्रस्तुत नाटकों की रंगसमीक्षा, 'दिल्ली का रंगमंच' में दिल्ली की प्रमुख प्रस्तुतियों का उल्लेख उसकी विशेषताओं के साथ रेखांकित है। हिन्दी भाषा की नाट्य-पत्रिका 'नटरंग' ने हिन्दी के मौलिक नाटकों के अलावा बांग्ला, गुजराती, कन्नड़, विदेशी आदि नाटकों की जानकारी भी दी। इसी तरह 'नाटक डायरी', 'साक्षात्कार', 'विशेषांक', 'धरोहर', 'पुस्तक समीक्षा' द्वारा 'नटरंग' ने महत्त्वपूर्ण पहलुओं को उजागर किया है। हिन्दी भाषा को माध्यम के रूप में चुनकर 'नटरंग' पत्रिका देशभर की रंगमंचीय हलचल का दस्तावेज बनी विशेषकर हिन्दी रंगमंच की। इसके द्वारा समय-समय पर निकले विभिन्न विशेषांकों ने उपयोगी जानकारी रंगजगत को दी है जैसे 'नाट्य समीक्षा' (अंक 3, 1965), हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी (अंक 9, 1969), बाल रंगमंच विशेषांक (अंक 13, 1970, अंक 29, 1977), संदर्भ साम्रगी (अंक 15-16, 1970-71), मोहन राकेश (अंक 21, 1972), 'रंगशिविर' (अंक 34, 1979), 'रंगशिल्प विशेषांक' (अंक 38-39, 1982), अर्धशती विशेषांक (अंक 50-52, 1989), नेमिचन्द्र जैन पर एकाग्र (अंक 74-75, 2005), कोरोनाकाल में रंगमंच की चुनौतियाँ (अंक 109-110), नटरंग (अंक 111, मार्च 2021) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सन्दर्भ सामग्री की दृष्टि से 'नटरंग' हिन्दी भाषा की

महत्त्वपूर्ण पत्रिका है। इसने न केवल हिन्दी भाषा को माध्यम बनाया बल्कि हिन्दी क्षेत्रों के रंगमंच को भी प्रमुखता से उभारा है। हिन्दी के अनेक मौलिक नाटक इसमें प्रकाशित हुए हैं। 'नटरंग' में प्रकाशित आलेखों, समीक्षाओं, सम्पादकीयों की भाषा ने रंगक्षेत्रों से एक सहज संबंध स्थापित किया है, जो ज्यादा अपनापन लिए लगती है। इस पत्रिका के प्रकाशन से रंग पत्रकारिता का वह आधुनिक दौर शुरू हुआ जिससे प्रेरित होकर उन्हीं की रूपरेखा अपनाते हुए अनेक छोटी-बड़ी नाट्य-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुई हैं। इसके महत्त्व और योगदान के विषय में वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता लिखते हैं कि—''इस पत्रिका ने कई नये नाट्य समीक्षक तैयार किये हैं, रंगकर्मियों को नाट्य समीक्षा लेखन की और प्रवृत किया, अध्यापकीय नाट्यालोचकों को रंगमंच से पहचान बढ़ाने की प्रेरणा दी, 'नटरंग' के प्रत्येक अंक में एक मौलिक नाट्यकृति छापकर नेमिजी ने यह प्रश्न भी उठाया कि कलात्मक रंगमंच के लिए विदेशी नाटक चुनना ही क्यों अनिवार्य है? हमारे देश के नाट्यकर्मियों को भारतीय नाटक की खोज करनी होगी।''[3]

दिल्ली की हिन्दी रंग पत्रकारिता में अगला महत्त्वपूर्ण नाम 'इम्पैक्ट' (1967) पत्रिका का है जो इब्राहिम अल्काजी के सम्पादन में प्रकाशित राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की प्रथम पत्रिका थी। बेशक यह अल्पकालिक रही और इसकी अधिकांश सामग्री अंग्रेजी भाषा में, अंग्रेजी थियेटर पर केंद्रित रही लेकिन हिन्दी में भी कुछ जरूरी लेख मिल जाते हैं। इम्पैक्ट (1967) में प्रकाशित अधिकांश सामग्री राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के छात्रों द्वारा ही लिखी गई है। पत्रिका के अंक-1 में 'हिन्दुस्तानी रंगमंच' शीर्षक से इब्राहिम अल्काज़ी का लेख पठनीय है। इसके अलावा अंक-2 में अमाल अल्लाना (लाइट ऐंड डार्कनेस इन 'राजा' ऐंड 'अंधा युग') और गोवर्धन पांचाल (कृष्णाट्टम), अंक-3 में रामगोपाल बजाज द्वारा ब्रेख्त के सिद्धांतों का हिन्दी अनुवाद (अ शोर्ट ऑर्गनम ऑफ द थियेटर बाय बर्टोल्ट ब्रेष्ट) उल्लेखनीय हैं। इन सीमित अंकों में कुछ पश्चिमी नाटककारों एवं रंगचिंतकों के अलावा रंगमंच के तकनीकी पक्ष पर भी महत्त्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध है। जैसाकि इसके नाम (इम्पैक्ट) से भी स्पष्ट है कि इसने रंगमंच, विशेषकर दिल्ली रंगमंच को जानने की एक नयी समझ पैदा की और राजधानी के रंग परिदृश्य पर लिखित रूप में 'प्रभाव' डाला।

वर्ष 1974 में 'कला दर्पण' (मासिक पत्रिका) से दिल्ली के तत्कालीन रंग वातावरण को समझने में मदद मिलती है। दिल्ली से सरोज जालंधरी के सम्पादन में प्रकाशित यह पत्रिका रंगमंच और सिनेमा दोनों पर आधारित थी। मुख्यतः सिनेमा पर केंद्रित इस पत्रिका ने रंगमंच पर स्तरीय सामग्री दी है। चुटीली भाषा में रंगमंच आधारित लेख, समीक्षा, साक्षात्कार इसमें मिलते हैं।

हिन्दी लघु नाट्य पत्र 'अभिनय-अन्तर्देशीय नाट्य पत्र' (पाक्षिक, दिल्ली, मार्च 1976) नाम से आनंद गुप्त/जयदेव तनेजा के संपादन में प्रकाशित होता था। इसके कुछ विशेषांक पत्रिका रूप में भी प्रकाशित हुए। इस अंतर्देशीय पत्र ने हिन्दी रंगचेतना के विकास में अपनी सार्थक भूमिका निभाई है। इससे प्रेरित होकर 'दर्पण दृश्य' (लखनऊ), 'थिएटर' (पटना), 'सूत्रधार' (बंगलौर, कन्नड़) आदि अनेक नाट्य पत्र इसी रूप में प्रकाशित हुए। हिन्दी रंग पत्रकारिता एवं भाषा सीमा की दृष्टि से इस पत्र में कम से कम शब्दों में विषयों का सार्थक प्रतिपादन किया। हिन्दी भाषा के इस पत्र ने अपने छोटे से कलेवर में रंगमंच के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों रेखांकित करके उन पर सार्थक विमर्श किया है। इसके विषयों में रंग पत्रकारिता में आये परिवर्तनों का रेखांकन, पंजाबी नाटकों में बढ़ती अश्लीलता, रंग गतिविधियों के आदान-प्रदान का प्रचार-प्रसार, नाट्य समीक्षक एवं रंगकर्मी के पारस्परिक संबंध, मौलिक नाटक लेखन की अपील, हिन्दी भाषा के प्रयोग पर बल, नाटक को कर मुक्त करने इत्यादि पर गंभीर रंग चर्चा की गई है। 'अभिनय-अन्तर्देशीय नाट्य पत्र' ने अपने छोटे रूप में ही विभिन्न नगरों की रंगमंचीय हलचल, मंचित होने वाले नाटकों की पूर्व सूचना दी, मंचित नाटकों की समीक्षा की एवं हिन्दी रंगमंच के बुनियादी सवाल भी उठाये जिन्होंने पाठक एवं प्रेक्षक तक अपनी जगह बनाई। इसी तरह व्यंग्य का चुटीला प्रयोग 'क्यो जी?' स्तम्भ में देखने को मिलता है। इसमें कम शब्दों में भाषा का तीखापन है। इस भाषा के माध्यम से अभिनेता, निर्देशक, समीक्षक तथा रंगमंचीय व्यवस्था पर निशाना साधा गया है। इसी तरह 'लघु साक्षात्कार' के रूप में साक्षात्कार के नये रूप को प्रस्तुत किया है। अनेक रंगकर्मियों के उपयोगी लेख इस हिन्दी नाट्य पत्र में प्रकाशित हुए जैसे 'मेरी ओर से.........' (नेमिचन्द्र जैन, प्रवेशांक, मार्च 1976)।

अनेक गंभीर रंग चर्चाएँ इस हिन्दी नाट्य पत्र के माध्यम से हुईं जैसे- 'लेखक बनाम निर्देशक' (ओमप्रकाश, अंक 4, अप्रैल 1976) 'नाटक किसी की बपौती नहीं' (राधेश्याम, अंक 5, मई 1976) 'अलगाव क्यों?' (महेश आनन्द, अंक 7, जून 1976) 'सवाल राष्ट्रीय रंगमंच का!' हिन्दी का एतराज क्यों? (जयदेव तनेजा, अंक 54-55, 1978) आदि। ऐसी ही एक परिचर्चा 'नाटककार बनाम निर्देशक' में ओमप्रकाश जहाँ नाटक को सामूहिक कला मानते हुए उसके हर अंग की मर्यादा पर बात करते है तो वहीं जयदेव तनेजा (निर्देशक स्वामी और उद्धारक की भूमिका छोड़ें) नाटक और रंगमंच के प्रत्येक अंग में सामंजस्य का होना महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वह निर्देशक को इस बारे में सलाह भी देते हैं - ''अपने-अपने अहं के अभेद्य दुर्गों में बंदी रंगमंच की इन पूरक इकाइयों में सहयोग सहअस्तित्व और सामंजस्य एक अच्छा आदर्श है परन्तु जब तक निर्देशक उद्धारक और स्वामी की भूमिका छोड़कर नाटककार के समक्ष नहीं खड़ा होता। हमें उसे बताना चाहिए उसका महत्त्व लेखक के मुकाबले प्रकाशक से अधिक है। रंगमंच की आत्मा नाट्यालेख ही है। निर्देशक को उससे अधिक महत्त्व देने का अर्थ होगा रंगमंच को एक गम्भीर और सार्थक अनुभव का कलात्मक माध्यम बनाने की बजाय उसे महज एक 'शो', तकनीकी कौशल और शिल्पगत चमत्कार मात्र बना देना।''[4]

'अभिनय अन्तर्देशीय पत्र' को उसकी सामग्री एवं महत्त्व के आधार पर 'बीज आलोचना' का नाम दिया जा सकता है। इस पत्र ने दिल्ली की रंग पत्रकारिता को विकासमान बनाया। हिन्दी रंगमंच पर केन्द्रित इस अन्तर्देशीय नाट्य पत्र ने समय-समय पर पत्रिका के रूप में कुछ विशेषांक भी प्रकाशित किये जिनमें रंगनगर विशेषांक, मोहन राकेश स्मृति विशेषांक, बालरंगमंच विशेषांक एवं शतक विशेषांक उल्लेखनीय हैं। छोटे आकार में भी 'अभिनय अतर्देशीय नाट्य पत्र' बड़ी भूमिका निभाता है। अपनी लघु सीमा में ढेर सारी रंग सामग्री संयोजित करके प्रस्तुत करना इस पत्र की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इस पत्र ने भाषा के सारगर्भित प्रयोग द्वारा रंग पत्रकारिता को सुन्दर रूप

दिया है।

इसी कड़ी में 'रंगमाया और फिल्ममाया' (त्रैमासिक, प्रदीप वर्णेकर) पत्रिका का उल्लेख जरूरी है। हालांकि यह सहयोगी कलाओं की पत्रिका थी लेकिन दिल्ली की रंगमंचीय हलचल को सक्रियता से देश के अन्य क्षेत्रों को जोड़ने में सराहनीय भूमिका निभाई है। जैसाकि इसके नाम से ही स्पष्ट है इसमें फिल्म और रंगमंच से सम्बंधित सामग्री प्रकाशित होती रही है। 'रंगमाया-फिल्ममाया' पत्रिका के संपादकीयों में रंगमंच के प्रति लगाव स्पष्ट दिखता है, जैसे साहित्य, कला एवं संस्कृति की जन पक्षधरता पर विचार, मूल्यविहीनता की तरफ बढ़ती युवा पीढ़ी, लोक रंगमंच को बढ़ावा देने के लिए संसाधन केंद्रों की स्थापना जरूरी एवं बाल रंगमंच को बढ़ावा देने पर बल आदि। इन सम्पादकीयों ने जो प्रश्न उठाये एवं जिन विषयों पर ध्यान केंद्रित किया वे दिल्ली के रंग परिवेश को विकसित करने के लिए आवश्यक थे।

'रंगमाया-फिल्ममाया' पत्रिका की रंगदृष्टि प्रमुख रूप से राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की रंग-गतिविधियों पर केंद्रित रही है। यहाँ होने वाली विभिन्न रंगमंचीय हलचलों को पत्रिका ने प्रमुखता से छापा है जैसे रंगमंडल की विभिन्न प्रस्तुतियों 'ताजमहल का टेंडर', 'अपने-अपने रास्ते', 'आइंस्टीन', 'जायज़ हत्यारें' आदि नाटकों की रंग समीक्षा। इन नाटकों के साथ दिल्ली में मंचित अन्य नाटकों (अभंगगाथा, अंधा युग, छतरियाँ, अंजो का तिलिस्म, दुल्हन आदि) की भी प्रस्तुति समीक्षा है। इस पत्रिका ने फिल्म और रंगमंच के साथ-साथ कविता, चित्रकला, एवं संगीत से जुड़ी गतिविधियों को भी स्थान दिया है। अनेक नाट्यलेखों, रंग व्यक्तित्वों (बाल गंधर्व, बी.एम.शाह, इब्राहिम अल्काजी, शम्भु मित्रा आदि) का परिचय एवं उनके रंगानुभव, दिल्ली की रंगमण्डली 'अक्षरा थियेटर' और राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की बाल रंगमंच कम्पनी 'थियेटर इन एजुकेशन' (TIE) की कार्यशैली पर भी रंग सामग्री पत्रिका के द्वारा सामने आई है। दिल्ली रंगमंच और राष्ट्रीय रंगमंच के जरूरी प्रश्नों से यह पत्रिका अपने लेखों के माध्यम से जुड़ी है। इन लेखों में महेश एलकुंचवार ('देशीय से राष्ट्रीय रंगमंच तक एक चुनौती भरा सफर', अंक 2-3, अक्टूबर 99-मार्च 2000), पंचानन पाठक ('कल और कल' , अंक 7-8, जनवरी-जून 2001) और चित्रा सिंह ('पुनःश्च समस्या; रंगकर्म की समस्या', अंक 7-8, जनवरी-जून 2001) का उल्लेख आवश्यक है।

कह सकते हैं कि 'रंगमाया-फिल्ममाया' पत्रिका नवें दशक के बाद की दिल्ली के रंगमंचीय परिदृश्य को सामने लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। राजधानी के रंगमंच को भारत से जोड़ने में और दिल्ली की रंग सक्रियता का परिचय देने में इसके योगदान को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

'रंग-प्रसंग' राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से प्रकाशित होने वाली पहली हिन्दी नाट्य पत्रिका है। 1959 में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की स्थापना के बाद विद्यालय की रंगमंच संबंधी जानकारी यहाँ से प्रकाशित 'न्यूज़लैटर' बुलेटिन व 'इम्पैक्ट' आदि के माध्यम से ही मिलती थी लेकिन माध्यम भाषा मुख्यतः अंग्रेजी थी। हिन्दी माध्यम नाट्य पत्रिका की कमी को 'रंग-प्रसंग' ने पूरा किया। 'रंग-प्रसंग' ने कम समय में ही वह स्तर पा लिया जो अखिल भारतीय स्तर पर 'नटरंग' के बाद शायद किसी हिन्दी भाषी नाट्य पत्रिका को नहीं मिला था। इसका परिचय राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय देते हुए लिखता है- "रंग प्रसंग विद्यालय की हिन्दी भाषा की पत्रिका है जिसका उद्देश्य पिछले 50 वर्षों में रंगमंच के बदलते परिदृश्य को दर्शाना है। प्रत्येक अंक विशेष की रंगमंच गतिविधियों पर प्रमुख रूप में संबंधित रहता है। प्रत्येक अंक में आमतौर पर रंगमंच और नाट्य कलाओं की विभिन्न तकनीकी विषय पर विचारोत्तेजक लेखों का समावेश किया जाता है। इसके अतिरिक्त हिन्दी में लिखे नाटकों और हिन्दी में ही अनुदित किये गये नाटकों की पांडुलिपियों का भी इस अंक में समावेश रहता है।"[5]

पत्रिका के विभिन्न स्तंभ पाठक वर्ग को नवीन और उपयोगी जानकारी उपलब्ध रहे हैं। इसका 'नाट्यालेख' कॉलम नए हिन्दी नाटककारों को मंच प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा है। इस विशिष्ट स्तम्भ के माध्यम से अनेक नए आलेखों को परिचय एवं मंच मिला है। इसी तरह 'साक्षात्कार' स्तम्भ में किसी रंगकर्मी की रंग यात्रा एवं उसके प्रयोगों के विशिष्ट योगदान पर चर्चा रहती है। 'पुस्तक प्रसंग' में अनेक नाटक एवं रंगमंच संबंधी पुस्तकों की समीक्षाएँ हैं। इस पत्रिका में प्रकाशित अनेक लेख हिन्दी नाटक लेखन और उनके अंगों का विवेचन-विश्लेषण करते हैं। इसी तरह अन्य स्तंभ हैं—'भेंटवार्ता', 'आत्मकथन', 'आकलन', 'लोकनाट्य', 'स्मृति शेष' और 'संस्मरण' के माध्यम से ऐसी सामग्री प्रस्तुत की गई जो रूचिकर होने के साथ-साथ दस्तावेजी महत्त्व की भी है। इन विभिन्न स्तंभों द्वारा भारतीय रंगमंच और दिल्ली रंगमंच के जिन पहलुओं पर विचार हुआ है वे नाट्य आलोचना एवं रंगविमर्श के नए द्वार तो खोलते ही है साथ में रंगकर्म के अतीत और वर्तमान की संजीव झलकियों को भी प्रस्तुत करते हैं। ऐसे ही अनेक संस्मरणों और स्तंभों द्वारा विविध रंगकर्मियों के रंगानुभवों से साक्षात्कार होना महत्त्वपूर्ण है। देखा जाए तो वास्तव में 'रंग-प्रसंग' में प्रकाशित सामग्री विचार-विमर्श के नए मुद्दों को सामने ला रही है। इसलिए इसका विस्तार से उल्लेख आवश्यक है क्योंकि एकल अंकों और विशेषांकों में सिमटी यह सामग्री अपनी उपयोगिता दर्ज कराती है। इस कड़ी में लेखों की अगर बात की जाए तो पत्रिका में प्रकाशित ये लेख विविध कोणों से नाटक और रंगमंच की सार्थकता की तलाश करते हैं। जैसे 'भारतीय नाट्य संस्कृति : कुछ बुनियादी सवाल' कुंवरजी अग्रवाल (अंक-1, 1998), दृश्य-श्रव्य माध्यम और नाटकः डा. माहेश्वर (अंक-2, 1998), 'अनवरत रंग यात्रा के पचास साल' देवेन्द्रराज 'अंकुर' (अंक-3, 1999), शिक्षा में रंगमंचः कीर्ति जैन (अंक-24, 2006), 'कालिदासः उत्तर आधुनिकता के संदर्भ में' रमेश दवे (अंक-25, 2005) इत्यादि।

'रंग प्रसंग' पत्रिका में प्रकाशित नाट्यालेखों ने एक ओर मौलिक नाट्यलेखन को बढ़ावा दिया तो दूसरी ओर अन्य भाषाओं के महत्त्वपूर्ण नाटकों के हिन्दी अनुवादों के प्रयासों को भी आगे बढ़ाया है। प्रसिद्ध कथाकार महेन्द्र भल्ला के नाटक सबसे पहले इसी में प्रकाशित हुए है। 'रंग-प्रसंग' का प्रत्येक अंक विशिष्टता लिए होता है और इसी विशेषता के कारण वह विशेषांक का रूप ले लेता है। विशेष रूप से ये विशेषांक उल्लेखनीय हैं—उत्तर भारत के रंग परिदृश्य पर केन्द्रित (अंक-5, 2000), अभिनय विशेषांक (अंक-6, 2000), मंच पार्श्व पर केन्द्रित (अंक-7 , 2001), रंगचिन्तन विशेषांक (अंक-11, 2003), रंग समीक्षा पर केन्द्रित (अंक-15, 2004), रंगमंच और सिनेमा पर

केन्द्रित (अंक-18, 2005), बाल रंगमंच (अंक-20, 2005), अभिनय विशेषांक (अप्रैल-सितंबर 2010), आलेख विशेषांक (अंक-42, 2014), रंग प्रशिक्षण विशेषांक (I, जून 2019), रंग प्रशिक्षण विशेषांक (II, जुलाई-सितंबर 2019), रंग प्रसंग (जून 2023) इत्यादि।

कह सकते हैं कि 'रंग-प्रसंग' नाट्य पत्रिका लगातार विश्लेषणपरक सामग्री को महत्त्व दे रही है। इसमें प्रकाशित सामग्री मुख्य रूप से नाटक और रंगमंच को वैचारिक स्तर पर समृद्ध करने की ओर अग्रसर है। आज जब रंगकर्म के बारे में गहराई से लिखने वाले हिन्दी लेखकों की कमी को बार-बार रेखांकित किया जाता है, तब इसके प्रत्येक अंक में कुछ नए विचारों और लेखकों का पाना कुछ कम उपलब्धि नहीं है। 'रंग-प्रसंग' महत्त्वपूर्ण हिन्दी रंग पत्रिका कहा जा सकता है। इसने प्रभावशाली स्तंभों एवं नाट्यलेखों के माध्यम से दिल्ली रंगमंच के समीक्षा पक्ष को मजबूत किया है।

'बहरूप' (अप्रैल 2000) पत्रिका के सम्पादक स्व. जे.एन. कौशल और शाहिद अनवर थे। 'बहरूप' आर्ट्स ग्रुप, नई दिल्ली की इस पत्रिका के केवल तीन अंक ही प्रकाशित हुए। बेशक 'बहरूप' अनियतकालिक पत्रिका थी लेकिन इन तीन सीमित अंकों में नाटक एवं रंगमंच विषयक महत्त्वपूर्ण रंग सामग्री मिली है। हिन्दी व अंग्रेजी भाषा में निकलने वाली इस पत्रिका का प्रत्येक अंक कुछ जरूरी प्रश्नों को उठाने पर केंद्रित रहा है। इसके साथ ही राजनैतिक रंगमंच को जन अभिव्यक्ति मानने, नुक्कड़ नाटक, बादल सरकार का रंगमंच, नये नाटकों की आवश्यकता पर विचार, निर्देशक की भूमिका, आलेख चयन, थियेटर और प्रेक्षक का अटूट सम्बंध आदि पर टिप्पणी मिलती है। 'बहरूप' पत्रिका ने केवल दिल्ली रंगमंच ही नहीं वरन भारतीय रंगमंच के अनेक महत्त्वपूर्ण रंगकर्मियों की रंगयात्रा को व्याख्यायित किया है। इसी कड़ी में रतन थियम, चंद्रशेखर काम्बार, गौतम हालदार, अलखनंदन, रॉबिन दास, राज बिसारिया, बहरूरत इस्लाम, नरोत्तम बेन और दिनेश ठाकुर जैसे प्रसिद्ध रंगकर्मी सम्मिलित हैं। रंग विचार-विमर्श की इस रंगयात्रा में इन रंगकर्मियों ने थियेटर को जीवन यात्रा का पर्याय मानते हुए रंग-मूल्यों की खोज, नवीन प्रयोग, सन्दर्भ की तलाश, बेहतर समाज के निर्माण में रंगमंच को सहायक व अंतर्दृष्टि देने वाला माना है और दुनिया में जो अच्छा है उस अच्छेपन को बचाने एवं जागरूकता लाने का माध्यम कहा है। 'बहरूप' का दूसरा अंक विशेष उल्लेखनीय है। यह अंक 'थियेटर और समीक्षक' के आपसी रिश्तों पर केंद्रित है। इसमें उपेक्षा की शिकार नाट्यालोचना, समीक्षा और समीक्षक के मानदण्डों पर विचार किया गया है। रंग विचार की इस शृंखला में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'नाटक' निबंध से लेकर वर्तमान समय तक की नाट्यलोचना और नाट्य समीक्षकों पर विश्लेषण परक दृष्टि डाली गई है।

इस तरह संक्षेप में कहें तो हिन्दी और अंग्रेजी के महत्त्वपूर्ण लेखों से सजी 'बहरूप' पत्रिका के बेशक तीन अंक ही प्रकाशित हुए लेकिन इन सीमित अंकों के माध्यम से पत्रिका की हिन्दी रंगमंच व दिल्ली रंगमंच के प्रति पर्याप्त गम्भीरता और विषय की विविधता को समझा जा सकता है।

दिल्ली रंग पत्रकारिता की कड़ी में एक अन्य पत्रिका 'समकालीन रंगमंच' (राजेश चन्द्र/2012) है। रंगमंच कला के विकास और उसके सामयिक मुद्दों पर विमर्श के उद्देश्य को लेकर समकालीन रंगमंच पत्रिका वर्ष 2013 से त्रैमासिक आवृत्ति के साथ निरंतर प्रकाशित हो रही है और इन वर्षों में उसने हिन्दी रंगजगत को एक नयी चेतना और ऊर्जा से लैस करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। समकालीन रंगमंच पत्रिका में अभिनेता व रंगकर्मी मानव कौल ने रंगमंच कलाकारों के प्रोत्साहन और पुरस्कारों पर गंभीर टिप्पणी की है-"आम तौर पर जिन रंगकर्मियों को अवॉर्ड मिलता है, थिएटर उनके जीवन से जा चुका होता है, जब आपके जीवन में, आपके खून में, दिनचर्या में थियेटर बीएस रहा है, आप सबसे ज्यादा काम कर रहे हैं, आपको उसी वक्त सहयोग और सम्मान की जरुरत रहती है, अगर उस वक्त रंगकर्मियों को प्रोत्साहित किया जाए तो आप देखिएगा कि एक साल में ही वह अपने काम से देश का नाम रोशन कर देगा। आप उसे तब पूछते हैं जब वह खत्म हो चुका होता है, जब उसके पास नया कुछ रचने की ऊर्जा और साहस नहीं होता।"[6]

पत्रिका ने सामान्य अंकों के साथ ही कुछ विशेषांक भी प्रकाशित किये हैं, जो काफी चर्चित हुए हैं। इनमें - महोत्सव संस्कृति, सांस्कृतिक नीति क्यों नहीं, कथ्य का संकट, अनुदान और रंगमंच तथा प्रशिक्षण और रंगकर्म आदि विषयों पर केन्द्रित विशेषांक उल्लेखनीय हैं। इसके प्रवेशांक में ही महेश दत्ताणी का लेख सांस्कृतिक नीति का अभाव एक बड़ी समस्या दिल्ली रंगमंच में होने वाले रंगमंचीय आयोजनों पर टिप्पणी करता है—"दिल्ली में आयोजन करना काफी आसान है क्योंकि यह केंद्र है। इस तरह का सिस्टम बनाया जाना चाहिए कि अगर एक महोत्सव में 20 नाटक हैं तो 5 नाटक आम लोगों के चुने हुए हों और उन्हें अलग-अलग शहरों और देशों में भी ले जाया जाये। इस तरह सरकार एक बड़ा योगदान कर सकती है।"[7] त्रैमासिक बुलेटिन रूप में प्रकाशित यह पत्रिका रंगमंच विशेषकर दिल्ली रंगमंच से जुड़े आवश्यक पक्षों को उठा रही है।

रंगकर्मी पुंज प्रकाश के निर्देशन में प्रकाशित 'मंडली' ब्लॉग पत्रिका है जो रंगमंच और अन्य कला माध्यमों पर केन्द्रित सांस्कृतिक दल 'दस्तक' से संबंधित है। इस पत्रिका में दिल्ली रंगमंच, कलाकार, नाट्य संस्थाओं, रंगमंच के जरूरी प्रश्नों को स्थान दिया गया है। इस सन्दर्भ में देवेन्द्रराज 'अंकुर' का 'निष्ठावान रंगकर्मियों को पहल करनी होगी' लेख पठनीय है-"रंगमंच को जीवित रखने के लिए अक्सर पैसे की कमी का रोना रोया जाता है, लेकिन मेरा मानना है कि आर्थिक साधन पर्याप्त हैं। भारत सरकार का संस्कृति मंत्रालय रंगकर्म के नाम पर अलग-अलग मद में खूब पैसा बाँट रहा है। निर्माण, भवन, उपकरण के लिए अनुदान की व्यवस्था है। प्रोड्क्शन ग्रांट व्यक्ति या संस्था के नाम पर लिया जा सकता है।"[8] इसके विभिन्न ब्लॉग में नाट्य समीक्षा, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नाट्य प्रदर्शन और रंगमंच से जुड़े व्यक्तित्वों व रूपों पर लेख हैं।

ब्लॉग और समाचारपत्रों ने दिल्ली रंग पत्रकारिता को बहुत सिरे से प्रभावित किया है लेकिन अधिक विस्तार में न जाते हुए भी अगर दिल्ली रंगमंच की बात करें तो नाट्य संस्थाओं पर यहाँ चर्चा विस्तार से है। जैसे ई-पत्रिका तहलका में मीनाक्षी तिवारी 'बे रंगमंच' शीर्षक से देश की राजधानी दिल्ली के प्रेक्षागृहों के बारे में लिखती हैं—"रंगमंच को अभिनय की पाठशाला माना जाता है। हर साल देश में रंगमंच

के कई आयोजन होते हैं जहाँ देश के कई हिस्सों से रंग समूह आकर अपने नाटकों का प्रदर्शन करते हैं, सम्मान भी दिये जाते हैं। लेकिन देश की राजधानी में रंगमंच का गढ़ मानी जाने वाली मंडी हाउस और बाकी ऑडिटोरियमों में किसी रंग समूह के लिए अपने नाटक का प्रदर्शन करके जनता के बीच पहुँच पाना इतना आसान नहीं है।"[9]

निष्कर्ष

इन नाट्य पत्रिकाओं के अलावा दिल्ली की साहित्यिक पत्रिकाएँ भी नाटक व रंगमंच से जुड़ी सामग्री प्रकाशित करती रहती हैं और बीच-बीच में इन पर केंद्रित विशेषांक भी निकालती हैं। मुख्यतः 'आलोचना', 'आजकल', 'संस्कृति', 'दीर्घा', 'उद्भावना', 'अनभै साँचा' आदि पत्रिकाओं ने अपने नाट्य-रंगमंच विषयक विशेषांक प्रकाशित किये हैं। दिल्ली की रंग पत्रकारिता पर बात करते हुए इन विशेषांकों को नजरंदाज नहीं किया जा सकता क्योंकि विशुद्ध रंग पत्रिका के अभाव या कमी में यही पत्रिकाएँ राजधानी की रंगमंचीय हलचल की साक्षी बनी हैं। रंग पत्रकारिता ने नाट्यालोचना को ऊँचाई दी है। विभिन्न रंग समीक्षाओं में समीक्षकों द्वारा इसे ऊँचाई मिली है। विख्यात रंग निर्देशक इब्राहिम अल्काज़ी इसे "बौद्धिक क्षमता"[10] का नाम देते हैं।

दिल्ली के हिन्दी रंग पत्रकारिता के विश्लेषण पर बात की जाये तो पायेंगे कि विभिन्न नाट्य समारोहों, रंग-गोष्ठियों एवं रंग प्रस्तुतियों के अवसर पर प्रकाशित होने वाली स्मारिकाएँ भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। ये स्मारिकाएँ रंगकर्मियों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बनी हैं। इनके द्वारा प्रस्तुत नाटक और उससे जुड़े नाटककार, निर्देशक, रंगकर्मियों के रंगानुभव से नाटक और रंगमंच की लिखित सामग्री मजबूत होती है और साथ ही दिल्ली रंगमंच हर दृष्टि से केंद्र में दिखता है। उमंग (रेखा जैन), दिशांतर (ओम शिवपुरी), दिल्ली नेहरू शताब्दी नाट्य समारोह (संगीत नाटक अकादमी), मोहन राकेश नाट्य समारोह, दिल्ली कथा कोलाज (राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय) आदि द्वारा प्रकाशित स्मारिकाएँ दिल्ली के बनते रंग परिवेश का जीवंत दस्तावेज हैं।

संक्षेप में हिन्दी की इन सभी नाट्यपत्रिकाओं का मुख्य उद्देश्य क्षेत्रीय रंगमंच को राष्ट्रीय रंगमंच से जोड़ने का रहा है। इन पत्रिकाओं के माध्यम से ही हिन्दी के अनेक मौलिक नाटकों का सृजन हुआ एवं अनुदित नाटक भी प्रकाशित हुए। हिन्दी रंगमंच को नया समृद्ध करने का प्रयास दिल्ली की इन हिन्दी पत्रिकाओं ने किया है। 1950 के बाद की दिल्ली और उसके बनते-बिगड़ते सांस्कृतिक वातावरण, रंग परिवेश को जानने के दिल्ली की रंग पत्रिकाओं व पत्रकारिता के बीच से गुजरना बेहद जरूरी है। इनसे प्राप्त लिखित सामग्री दस्तावेजी महत्त्व से परिपूर्ण है। इसके अभाव में आज़ादी के बाद बने दिल्ली रंगमंच के इतिहास को समझना सम्भव नहीं है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. महेश आनंद, 2007, रंग दस्तावेज़ : सौ साल, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय नई दिल्ली, प्रथम संस्करण पृष्ठ-15
2. https://www.natarang.org/natarang.html
3. वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता, 1994, सम्यक, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 197-198
4. जयदेव तनेजा, अभिनय अन्तर्देशीय पत्र, दिल्ली, संख्या 8 जून 1976
5. https://nsd.gov.in/hindi/index.php/book-published/
6. मानव कौल, समकालीन रंगमंच पत्रिका दिल्ली
7. महेश दत्ताणी, 2012, समकालीन रंगमंच, दिल्ली
8. देवेन्द्रराज 'अंकुर', 'निष्ठावान रंगकर्मियों को पहल करनी होगी' https://punjprakash.blogspot.com/search/label/»E0»A4»A6»E0»A5»87»E0»A4»B5»E0»A5»87»E0»A4»A8»E0»A5»8D»E0»A4»A6»E0»A5»8D»E0»A4»B0»20»E0»A4»B0»E0»A4»BE»E0»A4»9C»20»E0»A4»85»E0»A4»82»E0» A4» 95»E0»A5»81»E0»A4»B0
9. मीनाक्षी तिवारी-'बे रंगमंच' https://tehelkahindi.com/report-on-worsening-condition-for-theatre-artist-in-national-capital
10. इब्राहिम अल्काजी—'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय', श्रीनाट्यम पत्रिका वाराणसी, अंक 4

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
स्वामी श्रद्धानंद महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

●

नाटक बनाम रंगमंच

(अंधा युग की रंगमंचीय प्रस्तुतियों के विशेष संदर्भ में)

सूरज रंजन

शोध सार–जीवन के सबसे निकट होने के कारण नाटक को अन्य साहित्यिक विधाओं में सबसे रम्य माना जाता है। नाटक दृश्यात्मक होने के साथ-साथ श्रव्यात्मक होता है और सभी कलाओं को अपने अंदर समाहित करता है, इसी कारण आचार्य भरतमुनि ने नाटक को 'पंचमवेद' की संज्ञा दी है। कविता, कहानी या उपन्यास जैसी विधाओं में रचनाकार अपनी रचना कर लेता है, उसके बाद पाठक उस रचना को पढ़ते है। जबकि नाटक रंगमंचीयता जैसे गुण के कारण व्यक्तिगत रचना से परिवर्तित होकर समूह की रचना बन जाता है। कहने का आशय है कि नाटक में रचनाकार के साथ-साथ अभिनेता, निर्देशक तथा दर्शक सभी की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इस प्रकार नाटक एवं रंगमंच का बड़ा ही घनिष्ठ संबंध होता है। नाटक और रंगमंच के अंतर्संबंध की बात करते हुए अक्सर एक प्रश्न उठता है कि नाटक को रंगमंच के अनुरूप होना चाहिए या रंगमंच को नाटक के अनुरूप? एक तरफ जयशंकर प्रसाद जैसे महान नाटककार का मानना है कि नाटक के अनुसार रंगमंच हो, वही नाटककारों का दूसरा पक्ष मानता है कि रंगमंच को ध्यान में रख कर नाटक लिखे जाने चाहिए। इस तरह नाटक-रंगमंच का यह विवाद वर्षो से चलता आ रहा है। इस शोध पत्र में आधुनिक काल का प्रसिद्ध गीतिनाट्य 'अंधा युग' की विभिन्न रंगमंचीय प्रस्तुतियों के द्वारा यह दिखाने की कोशिश की जाएगी कि रंगमंच नाटक की व्याख्या है और नाटक तथा रंगमंच के बीच अन्योन्याश्रित संबंध है।

बीज शब्द–नाटक, रंगमंच, अंधा युग, गीतिनाट्य, नाटककार, निर्देशक, अभिनेता, दर्शक

मूल आलेख–साहित्य यदि जीवन की व्याख्या है तो नाटक जीवन की व्याख्या और रंगमंच नाटक की मूर्त व्याख्या है। या यूँ कहें कि वह रंगमंच ही है जो नाटकों की व्याख्या को रूपायित करने के लिए व्यापक पृष्ठभूमि और अनुकूल वातावरण प्रदान करता है। इसका कारण है कि नाटक एक दृश्य-श्रव्य कला माध्यम है और यह अपने अंदर कला की तमाम विधाओं को समाहित किये हुए है। नाटक के अंदर नृत्यकला, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य इत्यादि कलाओं के साथ-साथ अभिनेता, निर्देशक, रंगकर्मी, ध्वनि-प्रकाश व्यवस्था और दर्शक सभी की उपस्थिति होती है। इसलिए नाटक अन्य किसी साहित्यिक विधा से अधिक सजीव व जीवन के निकट होता है। वहीं रंगमंच वह प्लेटफॉर्म है जहाँ नाटक अपना चरम उत्कर्ष पाता है। "नाटक प्राण है तो रंगमंच शरीर है। बिना शरीर के प्राण की अभिव्यक्ति संभव नहीं है।"[1] वस्तुतः जीवन का सत्य नाटक के रूप में रंगमंच पर सजीव और मूर्त होकर ही अभिव्यक्ति पाता है।

नाटक और रंगमंच को लेकर विद्वानों में विवाद रहा है कि नाटक के लिए रंगमंच होना चाहिए या रंगमंच के लिए नाटक? वस्तुतः यह विवाद जयशंकर प्रसाद के इस कथन से शुरू हुआ था जब उन्होंने कहा–"रंगमंच के संबंध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जाएँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो, जो व्यावहारिक है। हाँ रंगमंच पर सुनिश्चित और कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता है।"[2] दरअसल, यह विवाद तब उत्पन्न होता है, जब हम नाटक या रंगमंच में से किसी एक को छोटा मानकर चलते हैं। जबकि, सच्चाई यही है कि नाटक अपने आप में अमूर्त होता है, जिसे मूर्तता रंगमंच प्रदान करता है। प्रसिद्ध नाटककार क्रेग नाटक को पढ़े जाने का कोई अर्थ नहीं मानते हैं। उनके अनुसार नाटक रंगमंच पर खेला और देखा जाना महत्त्वपूर्ण है–"A drama is not to be read, but it can be seen upon the stage."[3] अर्थात् नाटक की कसौटी रंगमंच है। निर्विवादित रूप से बिना मंचित किये नाटक की भाव सम्पदा का मूल्यांकन संभव नहीं है। अतः नाटक और रंगमंच को एक-दूसरे के प्रतिद्वंद्वी नहीं मानकर एक-दूसरे का पूरक मानना चाहिए। गिरीश रस्तोगी के शब्दों में "नाटक कोई पाठ्य पुस्तक मात्र नहीं है, वह एक जीवंत अनुभव है और रंगमंच उसका माध्यम।"[4]

रंगमंच : नाटक की व्याख्या

अगर नाटक और रंगमंच को एक-दूसरे का पूरक मान लिया जाए तब प्रश्न उठता है कि, रंगमंच आखिरकार नाटक की व्याख्या कैसे करता है? हम सभी जानते हैं नाटक रचते समय नाटककार के मन में नाटक के मंचीय स्वरूप की एक साधारण-सी रूपरेखा स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहती है। जिस पर खरा उतरने के लिए नाटककार अपेक्षित रंग-निर्देश या रंग-संकेत देता है; ताकि उन निर्देशों को ग्रहण कर रंग निर्देशक नाटककार की कल्पना को रंगमंच पर मूर्त रूप प्रदान कर सके। "कहानी और उपन्यास अपना वातावरण अपने में लिए रहते हैं, जबकि नाटक का वातावरण रंगमंच पर ही प्रस्तुत होता है। लिखा गया नाटक एक हड्डियों के ढाँचे की तरह है जिसे रंगमंच का वातावरण ही मांसलता प्रदान करता है।"[5] कहने का तात्पर्य है कि एक सफल नाटक के लिए नाटककार और रंग निर्देशक के बीच आपसी सहयोग तथा संतुलन आवश्यक है। कई बार ऐसा होता है कि निर्देशक नाट्य-प्रस्तुति का प्रभाव बढ़ाने के लिए अपनी प्रतिभा का उपयोग करता है जिससे नाटक का कलात्मक सौन्दर्य बढ़ जाता है। इसे ऐसे समझा जा सकता है कि कई बार कुछ कविताएँ ऐसी होती हैं, जो विभिन्न अर्थछायाओं के कारण सीधे-सीधे पाठकों तक संप्रेषित नहीं हो पातीं। वही जब कोई आलोचक उनकी व्याख्या करता है तो कविता

के कई अर्थ आसानी से समझ में आने लगता है। उदाहरण के लिए निराला कृत 'राम की शक्तिपूजा' एक ऐसी कविता है जिसकी कई व्याख्याएँ की गई हैं और सभी व्याख्याएँ अपने-आप में मौलिक और नवीन हैं। किसी आलोचक ने इसकी व्याख्या 'शक्ति-काव्य'[6] के रूप में किया है तो किसी ने 'सीता की मुक्ति' के रूप में तो किसी ने 'स्वयं निराला के जीवन-संघर्ष' के रूप में। कहने का आशय है कि विभिन्न अर्थछायाओं से युक्त किसी भी रचना की व्याख्या कई बार नये अर्थों में की जा सकती है। ठीक यही बात नाटकों पर भी लागू होती है।

कई बार नाटकों के प्रतीकों तथा विभिन्न अर्थछायाओं के कारण रंग निर्देशक उनकी व्याख्या अपनी दृष्टि से करता है। अगर कोई नाटककार यह चाहता है कि उसके द्वारा लिखित नाटक शब्द-दर-शब्द वैसे ही खेला जाए, तभी दिक्कतें शुरू होती हैं। क्योंकि रंगमंच पर लाने की प्रक्रिया में निर्देशक रंगमंच की व्यावहारिकता के अनुरूप उसमें थोड़े-बहुत बदलाव करता ही है। यहाँ ध्यान रखने वाली बात है कि निर्देशक यह बदलाव किसी बैर-भावना से नहीं करता बल्कि, रंगमंच की अपनी जरूरतों के तहत करता है। कई बार नाटकों में साहित्यिक प्रतिमान बहुत अधिक होता है, जिसके कारण उसे रंगमंच पर प्रस्तुत करना कठिन होता है। निर्देशकों को दर्शकों के मध्य नाटकों की संप्रेषणीयता को भी ध्यान में रखना होता है। जैसे जयशंकर प्रसाद की नाटकों की बात करें तो वे साहित्यिक प्रतिमानों पर तो खरे उतरते हैं परंतु, वैसी संस्कृतनिष्ठ भाषा के साथ उसका मंचन करना बेहद मुश्किल है, ऐसी भाषा क्या आम जनता तक संप्रेषित हो पाएगी? इस संदर्भ में मोहन राकेश का कथन उल्लेखनीय है—"प्रसाद जी के नाटकों पर प्रांजल भाषा भाव-गंभीरता और साहित्यिक उपलब्धि का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि रंगमंच के साथ नाटक के संबंध की चेतना ही लुप्त हो गयी।"[7] कहना न होगा कि नाटक नितांत व्यक्तिगत कृति न होकर रंगमंचीयता जैसे गुण के कारण सामूहिक कृति हो जाती है। वि. भा. देशपांडे इस संदर्भ में कहते हैं- "नाटक एक परावलंबी पराश्रयी कला है। इसे केवल लिखने से पूर्णता नहीं मिलती, प्रयोग के माध्यम से उसका दर्शकों तक आना आवश्यक है। क्योंकि यह प्रयोग सापेक्ष, दर्शक सापेक्ष कला है। इसके लिए कलाकार, दिग्दर्शक, तंत्रज्ञ आदि सभी घटक महत्त्वपूर्ण हैं।"[8]

वस्तुतः हर रंग निर्देशक पुराने नाटकों को अपने समय के युगीन समस्याओं के संदर्भ में प्रदर्शित करने की कोशिश करता है। इसलिए ऐसा माना जाता है कि रंगमंच नाटक की व्याख्या है और रंग निर्देशक उसका व्याख्याकार। दरअसल, होता यह है कि जब हम नाटक पढ़ते हैं तो हमारे मस्तिष्क में उसके दृश्य का 'बिम्ब' निर्मित होता है जो अमूर्त होता है और हम कल्पना द्वारा उस दृश्य का आस्वादन करते हैं। परंतु, रंगमंच पर रंग निर्देशक को उन बिंबों को दर्शकों के सामने मूर्त रूप में दृश्य-श्रव्य माध्यम में प्रस्तुत करना होता है। फलस्वरूप, निर्देशक के सामने कई व्यावहारिक समस्याएँ आती हैं जिसके समाधान के दौरान निर्देशक नाटक में कुछ बदलाव करता है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि नाटककार तो नाटक लिखकर सिर्फ मूर्ति गढ़ता है, रंगमंच पर उस मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा रंग निर्देशक ही डालता है। इसी कारण हर नयी संस्था, कलाकार या रंग निर्देशक के द्वारा एक ही नाटक की प्रस्तुति के अलग-अलग ढंग देखने को मिलते हैं। दूसरे शब्दों में, हर निर्देशक एक ही नाटक को रंगमंच पर अपनी रुचियों तथा विवेक के अनुसार व्याख्यायित व प्रस्तुत करता है। धर्मवीर भारती द्वारा रचित प्रसिद्ध गीतिनाट्य 'अंधा युग' (1955) की विभिन्न रंगमंचीय प्रस्तुतियों के आधार पर यह समझना और आसान हो जाएगा कि रंगमंच आखिरकार नाटक की व्याख्या कैसे है? आज तक अंधा युग की हजारों प्रस्तुतियाँ हुई हैं और हर प्रस्तुति में अंधा युग एक नए अर्थ में हमारे सामने आया है।

'अंधा युग' की विभिन्न रंगमंचीय प्रस्तुतियाँ

'अंधा युग' की पहली प्रस्तुति 1962 ई. में हिन्दी रंगमंच के प्रसिद्ध रंग निर्देशक 'सत्यदेव दुबे' ने की थी। उन्होंने इसका मंचन अपने घर के टैरेस पर ही किया। अर्थात सामान्य रंगमंचीय परिकल्पना द्वारा सत्यदेव दुबे ने इस महाभारतकालीन परिवेश वाले नाटक का मंचन सफलतापूर्वक कर दिया। जो आगे चलकर हिन्दी रंगमंच व नाटक का 'मील का पत्थर' साबित हुआ। इस मंचन के दौरान गांधारी की भूमिका मीना दास, धृतराष्ट्र की भूमिका अमरीश पुरी, गूंगा भिखारी की भूमिका राजेश खन्ना इत्यादि ने निभाई थी। इस मंचन की विशेषता थी कि सत्यदेव दुबे ने नाटक के साहित्यिक पक्ष को महत्त्व दिया तथा 'शब्द' के महत्त्व को ध्यान में रखा। उनका मानना था कि 'अंधा युग' सिर्फ भव्य दृश्य योजना नहीं है। इसका सर्वाधिक प्रभाव तब पड़ेगा जब इसे 'क्लोजअप' में दिखाया जाए। इसकी जान संवादों के उच्चारण (शब्दों के आरोह-अवरोह) द्वारा पात्रों के आंतरिक संसार को बाहर लाने में है।

इसके बाद 'अंधा युग' का मंचन 'इब्राहिम अलकाजी' ने 1963 ई. में किया। उन्होंने इसकी प्रस्तुति के लिए दिल्ली का फिरोज़शाह कोटला के खंडहरों को रंगमंच बनाया। सत्यदेव दुबे और अलकाजी दोनों निर्देशकों के मंचन का तरीका अलग था। अलकाजी ने 'अंधा युग' के मंचन हेतु लोक तथा शास्त्रीय रूढ़ियों का साथ-साथ प्रयोग किया। 'अंधा युग' के पात्रों और उसकी जर्जरता, पराजय, निराशा और टूटन से ध्वस्त पृष्ठभूमि में व्याप्त काली आँधी की छायाओं को मूर्तरूप देने के लिए कोटला के खंडहरों के बीच एक बुर्ज, टूटे दरवाजे, सीढ़ियों और रथचक्रों वाले मुक्ताकाशी खुले मंच का आश्रय लिया गया। ज़ाहिर है यह वातावरण अपने आप में नाटक की विषयवस्तु की 'भयावहता' को प्रतिबिंबित करने में पूर्णतः समर्थ था। ध्वस्त खंडहर में मृत्यु के प्रतीक गिद्ध समूह, सत्य की पराजय का प्रतीक टूटे रथ का पहिया, बुझे मन की तरह प्रकाशहीन मार्ग, कोने में छिपा बैठा अंधेरे का अहेरी आखेटक, भूतों की परछाई की तरह घूमते कौरवकुल गौरव आदि को प्रस्तुत करना इसी खंडहर में संभव हो सकता था। इसके अलावा अलकाजी ने 'अंधा युग' का दो और मंचन किया। 1967 में तालकटोरा मुक्ताकाशी मंच में तथा 1974 में पुराने किले में। कहने की आवश्यकता नहीं है कि उन्होंने इस नाटक का तीनों मंचन अलग-अलग ढंग से की। तालकटोरा वाले मंचन में अश्वत्थामा की भूमिका ओमपुरी ने निभाई थी। अलकाजी ने गांधारी का विलाप 'काबुकी शास्त्रीय शैली' (जापानी शैली) में चित्रित किया, जिसमें मुखौटे का उपयोग करते हुए विलाप दिखाया गया, जो कि मूल टेक्स्ट से

भिन्न अप्रोच था। इसके अलावा वृद्ध याचक का अश्वत्थामा द्वारा हत्या को अलकाजी ने 'कथकली शैली' में करते हुए दिखाया। अर्थात उन्होंने इस नाटक को कई लोक तथा शास्त्रीय शैलियों का कोलाज बना दिया। गौरतलब है, 'अंधा युग' की इन्हीं प्रस्तुतियों ने दिल्ली में इब्राहिम अलकाजी और 'अंधा युग' दोनों को स्थापित कर दिया।

फिर 1973 में अंधा युग का मंचन 'मोहन महर्षि' ने मारीशस में किया। इस मंचन की खास बात यह थी कि इसने मारीशस में हिन्दी रंगमंच को स्थापित किया। इसमें मोहन ने कई नए प्रयोग किये, जो बड़े असरदार साबित हुए। उन्होंने युद्ध के हाहाकार को पार्श्व ध्वनि से उभारा और लुंज-पुंज कौरव सेना को धृतराष्ट्र के द्वारा अभिव्यक्त करवाया ताकि धृतराष्ट्र के साथ दर्शक भी यह महसूस कर सके की युद्ध की परिणति कितनी कुत्सित व जघन्य होती है। महर्षि ने पाँच अंकों के नाटक को भी संक्षिप्त करके तीन अंकों का कर दिया तथा सेट एक ही रखा।

1974 में 'रवि वासवानी' ने 'अंधा युग' की नयी व्याख्या तथा प्रस्तुति की। उन्होंने इसके लिए दिल्ली के प्यारेलाल थिएटर में प्रतीकात्मक सेट निर्मित की। युद्ध की ध्वनियों के लिए वियतनाम युद्ध की ध्वनियों का प्रयोग किया। वस्तुतः वासवानी ने 'अंधा युग' का मंचन 'आधुनिक युद्ध की पृष्ठभूमि' में की। प्रहरियों के हाथ में बंदूकें थमा दी तथा युद्ध का वातावरण बना दिया। साधारण सा दर्शक भी दृश्य देखकर समझ सकता था कि नाटक का कथ्य आधुनिक युद्ध के परिदृश्य से जुड़ा है। इस मंचन के द्वारा वे संदेश देना चाहते थे कि युद्ध की विभीषिका किसी समस्या का समाधान नहीं होता। इसके लिए उन्होंने पात्रों को पौराणिक वस्त्रों के बदले काले कपड़े पहनाये। दृश्य संरचना, साज-सज्जा, चलने-बोलने आदि सबको वासवानी ने नई व्याख्या दी। इस प्रस्तुति ने अंधा युग को एक 'युद्ध विरोधी पाठ' के रूप में स्थापित कर दिया।

1974 में ही रतनथियम ने 'अंधा युग' का मंचन इम्फाल में किया। जिसके कोरस में उन्होंने 'मणिपुरी भाषा' रखा। उनकी यह प्रस्तुति अपने अनूठे दृश्य-योजना के लिए प्रसिद्ध है। इसमें उन्होंने मणिपुर के मार्शल-आर्ट का भी प्रयोग किया। वे रंगों के बड़े पारखी थे, अतः स्थानीय मार्शल आर्ट को रंगभाषा का आधार बनाया।

1983 में 'बंसी कौल' ने मध्यप्रदेश के भारत भवन रंगमंडल में अंधा युग का मंचन 'पंडवानी शैली' में किया। इस शैली में एक ही व्यक्ति तमाम चरित्रों का अभिनय व पाठ करता है। यह अपने आप में अनोखी व अलग ढंग की प्रस्तुति थी।

इन सारी प्रस्तुतियों के अलावा समय-समय पर 'अंधा युग' का मंचन नये-नये प्रयोगों और व्याख्याओं के साथ होता रहा है। बाद में तो अंधा युग एक ऐसा टेक्स्ट बन गया, जो किसी भी रंग निर्देशक के मूल्यांकन का आधार माना जाने लगा। समकालीन हिन्दी रंगमंच के एक युवा रंग निर्देशक 'प्रवीण गुंजन' ने अभी हाल के वर्षों में 'अंधा युग' को एकदम नवीन संदर्भों में व्याख्यायित किया है तथा पिछली सभी सफल प्रस्तुतियों को दरकिनार कर 'अंधा युग' का बिल्कुल नये अर्थों के साथ मंचन किया है। इस संदर्भ में प्रवीण गुंजन का कहना है—"इसके लिए मानसिक तौर पर पहली शर्त थी कि 'अंधा युग' को पौराणिक परिवेश से काटकर आधुनिक परिवेश में देखें (विशेषतः चरित्रों को)। पर इसकी पौराणिकता व उससे जुड़े संदर्भ आपको छोड़ने के लिए तैयार ही नहीं थे। ...कि एका-एक कुछ सवालों ने जैसे- धृतराष्ट्र तथा गांधारी एक साधारण मध्यमवर्गीय दंपत्ति हैं, जिनके बेटे युद्ध में मारे जा रहे हैं या किसी भी हिंसा में मारे जा रहे हैं और कृष्ण नायक या ईश्वर नहीं बल्कि एक शक्तिशाली सत्ता का केंद्र है। ठीक उसी तरह युद्ध को न्यायोचित ठहराते हैं जैसे कोई शासक रोज़ ऐसा करता है। वह कभी नरसंहार की ज़िम्मेदारी नहीं लेता है। इसलिए प्रस्तुति में कृष्ण की आवाज़ बदली-बदली सी लगती है।"[9] स्पष्ट है कि प्रवीण गुंजन ने 'अंधा युग' को अपने तत्कालीन समस्याओं के संदर्भ में जोड़कर देखा है। उन्होंने गांधारी की आँखों पर पट्टी न पहनाकर 'हैट' पहना दिया। गांधारी जब एकांत में बैठकर धृतराष्ट्र को छड़ी के सहारे अपना दुरूख साझा कर रही होती है, तो ऊपर हथियारों से भरा सिंहासन झूल रहा होता है और दूसरी तरफ वीडियो स्क्रीन पर बमवर्षक विमानों की आवा-जाही दिखाई पड़ती है। जिससे आम लोग दहशत में हैं। ये समूचा बिम्ब पूरे 'अंधा युग' को आज के हिंसात्मक परिप्रेक्ष्य के साथ जोड़ता है। प्रवीण संदेश देना चाहते हैं कि यह कोई शारीरिक या भौतिक अंधापन नहीं है बल्कि हमारे समय द्वारा हमपर लादा गया है। इस प्रस्तुति के दौरान पूरे दृश्य योजना में 'विजुअल्स' को सांकेतिक रूप से प्रमुखता दी गई है। युद्ध में कौरव सेना के जीवित बचे कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वथामा की वस्त्रसज्जा आधुनिक संदर्भ में नक्सली बागियों जैसी है।

निष्कर्ष—इस प्रकार नाटक के अलग-अलग कथ्यों पर बल देकर नाटक की अलग-अलग प्रस्तुति को स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान किया जा सकता है। जिसके बाद हर नाटक में अपनी अगली प्रस्तुति में नये-नये अर्थ संप्रेषित करने की संभावना रहती है। 'अंधा युग' की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि धर्मवीर भारती ने इसका मंच विधान बहुत लचीला बनाया है। 'अंधा युग' में वे निर्देश देते हैं—"मूलतः यह काव्य रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखा गया था। .....मैंने इस बात को भी ध्यान में रखा है कि मंच विधान को थोड़ा बदल कर यह खुले मंच वाले लोकनाट्य में भी परिवर्तित किया जा सकता है। अधिक कल्पनाशील निर्देशक इसके रंगमंच को प्रतीकात्मक भी बना सकते हैं।"[10] इसके अलावा 'अंधा युग' की समग्र बनावट में 'प्रतीक' अनुस्यूत है। वस्तुतः प्रतीक नये अर्थ की संभावना का एक कलात्मक उपकरण है जिसके उपयोग का परिणाम होता है कि रचना की विभिन्न अर्थछायाएँ खुलती हैं। निर्देशक किसी भी अर्थ छाया को नाटक के केंद्र में रखकर उसकी नई व्याख्या कर सकता है। इसी कारण 'अंधा युग' में प्राचीन घटनाओं और मनःस्थितियों के साथ आधुनिक युग की विभिन्न समांतरता है। इस संदर्भ में ज्वालाप्रसाद खेतान का कहना है—"अंधा युग के अधिकांश पात्र निश्चित ऐतिहासिक चरित्र होते हुए भी विशिष्ट मानसिक प्रवृत्तियों, दृष्टिकोणों एवं अंतर्ग्रंथियों के प्रतीक हैं। यह प्रतीकत्व उनके चरित्र की स्वतन्त्रता को नष्ट नहीं करता वरन उन्हें एक विराट मानवीय प्रासंगिकता प्रदान करता है, जिसके कारण महाभारत की कथा के एक अंश का पुनर्कथन मात्र न रहकर अंधा युग मानव-मन के अंतर्जगत का महाकाव्य बन गया है।"[11] समग्रता से कहें तो वस्तु और शिल्प में एक रिश्ता होता है। शिल्प बदलने पर वस्तु पर भी प्रभाव पड़ता है। जैसे—'अंधा युग' की प्रस्तुति खंडहर में अर्थात पंचतत्व के फॉर्म

में करके इब्राहिम अलकाजी ने नाटक के शिल्प को ही बादल दिया। जिसके कारण 'अंधा युग' की वह प्रस्तुति नए अर्थ में हमारे सामने आई। स्वयं धर्मवीर भारती ने 'अंधा युग' का तीन बार मंचन किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि तीनों मंचन में उन्होंने अपनी ही कृति के तीन अर्थ-स्तरों को पाया है। इससे स्पष्ट होता है कि नाटकों में अनेक तरह से रंगमंचित होने की संभावना रहती है। रंग निर्देशक अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा व कल्पना द्वारा एक ही नाटक की कई व्याख्याएँ करके हर बार कुछ-न-कुछ नयेपन के साथ उसका मंचन करता है।

संदर्भ सूची

1. वर्मा, रामकुमार, दीपदान (पाँच मौलिक अभिनय एकाँकी), नाटक की भूमिका, पृष्ठ 12
2. प्रसाद, जयशंकर, काव्य और कला तथा अन्य निबंध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2016, पृष्ठ 69
3. Craig, Gordon, The Theory of Modern Stage, pg 114
4. रस्तोगी, गिरीश, नाटक तथा रंग-परिकल्पना, विश्वविद्यालय प्रकाशन, काशी, 1992, पृष्ठ 01
5. राकेश, मोहन, रंगमंच विषयक निबंध, हिन्दी समय, https://hindisamay.com/mohan-rakesh-sanchayan/mohan-rakesh-essays-natya-sahitya.htm
6. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिन्दी साहित्य व संवेदना का विकास
7. राकेश, मोहन, हिन्दी रंगमंच, सं. रवीन्द्र कालिया, मोहन राकेश संचयन, हिन्दी समय, https://hindisamay.com/mohan-rakesh-sanchayan/mohan-rakesh-essays-natya-sahitya.htm
8. देशपांडे, वि. भा., गंगाधर पानतावणे, अस्मिता दर्श ललित नाट्य विशेषांक, पृष्ठ 113
9. गुंजन, प्रवीण, बाहरी दुनिया के शोर का रिएक्शनः अंधा युग, रंगविमर्श ब्लॉगपोस्ट, 25 फरवरी 2014, https://rangwimarsh.blogspot.com/2014/02/andha-yug.html
10. भारती, धर्मवीर, अंधा युग, निर्देश पृष्ठ 05
11. खेतान, ज्वालाप्रसाद, सृजन के आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2000, पृष्ठ 147

शोधार्थी, हिन्दी विभाग
झारखंड केन्द्रीय विश्वविद्यालय

●

इंटरनेट से साभार–पुराना किला में हुई 'अंधायुग' की प्रस्तुति का एक दृश्य

‘कबिरा खड़ा बज़ार में’ नाटक का कथ्य

मीनू कुमारी

रचनाकार की रचना मूलतः उसके व्यक्तित्व का ही प्रकाशन है इसमें संदेह नहीं, अर्थात् प्रकाशन काल संगत होता है यह निश्चित है। “देश एवं काल की परिधि को तोड़ने की आकांक्षा साहित्य की चिरंतन आकांक्षा है किंतु रचनाकार अनिवार्यतः देश और काल में बंधे जीवन की उपज है। यह एकसाथ उसका बंधन भी है और मोक्ष भी। अपने वातावरण के कण-कण का स्पंदन पहचाना और अपने काल के क्षण क्षण की धड़कन को जानना रचनाकार के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि भविष्य का आख्याता होना। अर्थात् वर्तमान की क्षुद्रता का निराकरण करके मानव के आगामी क्षितिजों का चित्रकार होना। एक प्रकार से रचनाकार की साधना देश और काल की ही साधना है। वह ऐसा गगनचारी है जिसकी दृष्टि सदैव धरती में अपने नीड़ पर रहा करती है। कबीर भी एक ऐसे ही कवि हैं जो कालजयी भी हैं और काल सापेक्ष भी। कबीर की वाणी युग की प्रताड़ना का परिणाम भी है और मानवता के लिए संदेश भी, जो हर युग में प्रासंगिक है।

कबीर जिस समय रचना कर रहे थे उस समय हिंदू और मुसलमानों का संघर्ष जोरों पर था। अपने-अपने धर्म को सर्वश्रेष्ठ साबित करना उस युग का स्वर था। उस स्वर से हटकर कबीर ने जो मानवता की स्थापना की वह अत्यंत दुर्लभ है। कबीर के हृदय में केवल एक ब्रह्म बसता था। उनके रोम-रोम से उसी का गुणगान निकलता था। ब्रह्म का न कोई धर्म होता है और न ही जाति और न ही वह किसी धर्म विशेष या जाति विशेष के लिए होता है। इस तथ्य को कबीर ने बखूबी समझ लिया था।

“जाति न पूछो साधु की पूछ लीजिए ज्ञान
माल करो तरवारि का पड़ा रहने दो म्यान”

कबीर अपने बेबाक अंदाज के लिए प्रसिद्ध थे। वे कवि तो थे ही समाज सुधारक भी थे।

‘कबिरा खड़ा बज़ार में’ नाटक में भीष्म साहनी ने कबीर के इसी बेबाक रूप को दिखाया है। कथानक अत्यंत सुंदर, देशकाल और वातावरण के अनुरूप है। इस नाटक का मंचन अप्रैल 1981 में श्री एम. के. रैना के कुशल निर्देशन में त्रिवेणी के खुले नाटक गृह में हुआ। जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा हुई। कबीर जैसे कालजयी रचनाकार को किसी कथानक में बाँध पाना अपने आप में चुनौतीपूर्ण कार्य था और वह भी उनकी गरिमा को खंडित किये बिना। भीष्म साहनी ने यह दायित्व बखूबी निभाया है। नाटक की भाषा, कबीर के पद, उसकी नाटकीयता, संवाद, व पात्र सभी इतने सटीक है कि कहीं कोई चूक दिखाई नहीं देती। इसके बाद भी कुछ स्वर इस प्रकार के सुनाई दिये कि इस नाटक में कबीर का सामाजिक पक्ष तो उजागर हुआ है किंतु आध्यात्मिक पक्ष की उपेक्षा हुई है। भीष्म साहनी ने नाटक की भूमिका में लिखा है कि “मेरी समझ में कबीर का अध्यात्म मूलतः उनकी मनुष्य मात्र के प्रति समदृष्टि, प्रेमभाव, भक्तिभाव और व्यापक धर्मेत्तर दृष्टि से ही पनप कर निकाला है। उनके बाह्याचार विरोधी पद, भक्तिभाव के पद और आध्यात्मिक पद एक ही भूमि में उत्पन्न हुए हैं। एक ही मूल दृष्टि की उपज है। इस तरह वे एक दूसरे से अलग न होकर एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। जो साथक अंतरिक्ष को छूते हैं वह धरती पर से उठकर ही अंतरिक्ष तक पहुँचते हैं।”

भीष्म साहनी का यह कथन सत्य है। ‘कबिरा खड़ा बज़ार में’ नाटक के संबंध में यदा-कदा पनपी भ्रांतियों को दूर करने के लिए नाटक के कथ्य पर प्रकाश डालना अत्यंत आवश्यक है।

सर्वप्रथम इस नाटक के नामकरण पर बात करेंगे। नामकरण में चार शब्दों का यह पदबंध कौतूहलपूर्ण है जिससे पाठक में नाटक पढ़ने के जिज्ञासा उत्पन्न होती है। कबीर से बदलकर ‘कबिरा’ बना देना कबीर के मस्तमौला व्यक्तित्व का परिचायक है। नाटक में भी दृष्टतव्य है कि कबीर अच्छे-अच्छे महापुरुषों से भिड़ जाता है और धर्म के वास्तविक स्वरूप पर तर्क करने लगता है -

“कबीर—मैं खुदा का बंदा हूँ। मेरा मजहब इंसान की मोहब्बत है। खुदा की बंदगी है।

सिकंदर—लेकिन तेरा कोई दीन भी तो होगा? तू इबादत भी तो करता होगा?

कबीर—मैं उस खुदा की इबादत करता हूँ जो हर इंसान के दिल में बसता है।

सिकंदर—कौन है वह खुदा?

कबीर—मेरा परवरदिगार मेरे चारों ओर है। वह मेरे दिल में बसता है। उसकी नजर में न कोई हिंदू है न तुर्क। मैं अल्लाह का नूर हर इंसान में देखता हूँ। इंसान के दिल में देखता हूँ।”

नाटक के नाम में एक शब्द आया है ‘बज़ार’। इसके कई अर्थ है। बज़ार से अभिप्राय है- जहाँ हर माल बिकता है। कबीर के अनुसार यह दुनिया एक ऐसे बाजार के समान है जहाँ सच्चाई, ईमानदारी, धर्म, जाति व जमीर सब बिकते हैं। जो सभ्य लोग हैं वे इसे बाजार कहते हैं। किंतु ‘बज़ार’ का अर्थ है जहाँ सामान खरीदा और बेचा तो जाता ही है किंतु बिना किसी व्यवस्था के। अतः नाटक के नाम से यह अर्थ निकलता है कि कबीर के लिए यह संसार एक ऐसा दुनिया धंधा है जिसके ढोंग और पाखंड कबीर को नहीं भाते। भीष्म साहनी ने कबीर दास के मानसिक पटल की इसी बारीकी को परखा है। भीष्म साहनी का यह नाटक देखने में छोटा है किंतु बहुत प्रभावशाली है। इसका कथ्य कबीर के केवल सामाजिक रूप को ही नहीं उभरता बल्कि उसका आध्यात्मिक रूप भी इसमें गुँथा हुआ है।

यह ज्ञातव्य है कि कबीर मानवतावादी कवि हैं। वह किसी संप्रदाय में विश्वास नहीं रखते। नाटक में भी एक स्थान पर हिंदू धर्म

की विभिन्न शाखाओं की ओर संकेत किया है। नाटककार ने भी स्पष्ट किया है कि धर्म वह है जो मानव को मानव से जोड़े न कि पूजा पाठ का दिखावा करके भ्रम फैलाये। भक्ति सहजता का नाम है जटिलता का नहीं।

"कोतवाल - मगर किसी के माथे पर एक रेखा होती है किसी पर दो किसी पर तीन भी।

कायस्थ—एक रेखा वह लगाते हैं जो केवल ब्रह्म को मानते हैं।

कोतवाल—और दो।

कायस्थ—जो जीव और ब्रह्म दोनों को मानते हैं।

कोतवाल—और तीन।

कायस्थ—जो जीव ब्रह्म और प्रकृति को मानते हैं।

कोतवाल—और जो टीका नहीं लगाते।

कायस्थ—ब्राह्मणों में जो टीका नहीं लगाए उसे चांडाल माना जाता है मालिक।"

हिंदू धर्म में अलग-अलग संप्रदाय और मत हो सकते हैं। सब की यात्रा अलग-अलग हो सकती है किंतु सबका उद्देश्य केवल ब्रह्म की प्राप्ति और मानवता की सेवा ही होना चाहिए। किंतु धर्म के उच्चाधिकारी कहे जाने वाले लोगों ने संप्रदाय के नाम पर अलग-अलग अखाड़े बना लिये हैं। और इन अखाड़ों में अक्सर तनाव की स्थिति पैदा होती रहती है। कभी-कभार तो तोप तक चल जाती हैं। केवल एक वैचारिक मान्यता को लेकर हथियारों से मानवता की हत्या करना कहाँ का धर्म है। जिन उच्च अधिकारियों के संकेत पर यह झगड़े होते हैं वे मानवता का भला क्या संदेश देंगे? फिर क्यों सामान्य जनता उनके पैर पूजे?

नाटक ने समाज में फैली जातिप्रथा को भी व्यक्त किया गया है। विडंबना यह है कि बड़े-बड़े धर्मी-कर्मी भी जातिप्रथा व ऊँच नीच में विश्वास रखते हैं। कबीर को इसी बात से कष्ट होता है। जब समाज के ठेकेदार ही ऐसे कृत्य करेंगे तो सामान्य लोग तो उनका ही अनुसरण करेंगे। इस तरह मानव-मानव से जुड़ने के स्थान पर कई खेमों में बँट जाता है। वे एक-दूसरे की पीड़ा ही नहीं समझ पाते। नाटक में दिखाया गया है कि एक महंत की सवारी निकल रही है। उस पर फूल बरसाये जा रहे हैं। लोग उसकी जय जयकार कर रहे हैं और वह महंत पानी के कुल्ले भर-भर कर लोगों पर फेंक रहा है। लोग उसे अमृत मानकर अपने शरीर पर मल रहे हैं। महंत की सवारी के आगे एक नीच जाति का बच्चा आ जाता है। साधु उसे चाबुक से पीट-पीट कर अधमरा कर देता है। कबीर उसे बचा लेता है अन्यथा वह मर ही जाता।

नाटक में दिखाया जाता है कि चंद पाखंडी लोग भगवान का भय दिखाकर लोगों पर शासन करते हैं। इस प्रकार के कुशासन में केवल धर्माधिकारी ही नहीं प्रशासक भी शामिल होता है। कई बार तो प्रशासक के इशारों पर धर्म के नाम पर गरीब कुचले जाते हैं। नाटक में मौलवी, कोतवाल, महंत, हकीम और कायस्थ सब मिले हुए हैं। महंत मठ बनाने का विचार कोतवाल के पास लेकर आता है। मठ की जमीन के सामने डोमों की बस्ती पड़ती है। महंत प्रशासन की सिफारिश से वहाँ से डोमों की बस्ती हटवाना चाहता है। कोतवाल को भी महंत का विचार अच्छा लगता है। यहाँ स्पष्ट है कि प्रशासन धर्म के नाम पर तटस्थ नहीं है। यहाँ पर कोतवाल महंत की बात का समर्थन करता है। कोतवाल एक मुस्लिम है। डोमों की बस्ती हटाने से उसके धर्म पर कोई आँच नहीं आती। मौलवी प्रवेश करता है। कोतवाल और मौलवी के संवाद से साफ झलकता है कि प्रशासन जनता के कार्य करने के लिए नहीं बल्कि अपने धर्म की स्थापना के लिए कार्य करते है। मौलवी कबीर के विषय में चर्चा करता है क्योंकि कबीर दिन की तौहीन करता है। वह मुसलमान की इबादत पद्धति पर सवाल उठता है। मौलवी साफ शब्दों में कहता है कि तुम्हारे रहते कोई दीन की तौहीन करें यह कैसे संभव है। कबीर के शेयर-काफिये लोगों की जबान पर चढ़ जाते हैं। जहाँ खड़ा होता है वहाँ मजमा इकट्ठा हो जाता है। यदि यह मजमा बढ़ गया तो दिन खतरे में पड़ जाएगा। मौलवी की इस बात पर कोतवाल जो दलीलें देता है वह हैरत में डालने वाली है।

कोतवाल—दिन की खिदमत मौलवी इतनी नहीं करते जितनी हकीम करता है। अगर मजहब की खिदमत उन्हीं लोगों तक रहती तो कोई भी मजहब आगे नहीं बढ़ पाता। मजहब के नाम पर सल्तनत बनती हैं और सल्तनतों के साये में मजहब पनपते हैं। हकीम की तलवार दिन की खिदमत करती है।

प्रस्तुत परिवेश, देशकाल और वातावरण कबीर के काल के अनुकूल है। कबीर के पदों में यह व्यक्त हैं कि उन्होंने मुल्ला-मौलवियों को फटकार लगाई—

"कांकर पाथर जोरि के मस्जिद लई बनाय
ता चढ़ मुल्ला बांग दे क्या बहरा हुआ खुदाय"

नाटक में दिखाया गया है कि कबीर ने रविदास, सेना और पीपा के साथ मिलकर एक टोली बनाई। हाकिम को इस बात से एतराज था कि कबीर के पद सब लोगों की जबान पर चढ़ते हैं। इतिहास गवाह है कि कबीर काशी में रहता था और सन 1388 में उनका जन्म हुआ। रैदास जोकि बाद में रविदास के नाम से जाने गये, वह भी काशी के रहने वाले व इस काल के कवि थे। संत पीपा का जन्म राजस्थान में हुआ। किंतु थोड़े समय पश्चात इन्होंने राजस्थान छोड़ दिया। यह भी समाज सुधारक थे। निर्गुण पंथी थे और उनके गुरु भी स्वामी रामानंद थे। कबीर दास के गुरु भी स्वामी रामानंद थे इसलिए नाटक में उनकी चर्चा करना कोई असंगति नहीं है। नाटक में कुछ नाम व घटनाएँ काल्पनिक भी हैं।

पुरुषोत्तम अग्रवाल की पुस्तक 'अकथ कहानी प्रेम की' (कबीर की कविता और उनका समय) के तीसरे अध्याय में स्पष्ट लिखा है। 'काशी बसे जुलाहा एक' में कबीर के देशकाल व वातावरण का हूबहू वर्णन है जैसा कि 'कबिरा खड़ा बज़ार में' नाटक में किया गया है। उसमें लिखा है कि "काशी के हिंदू और मुसलमान नेता, भद्रजन, अपने-अपने समुदाय के नेतृत्व का दावा करने वाले 'प्रतिनिधिगण' कबीर की कविता के कारण नहीं, बल्कि उसके विरुद्ध एक होकर पहुँचे थे सिकंदर लोदी के हुजूर में। बादशाह हैरान, परेशान -एक अदना जुलाहे ने ऐसा क्या गजब ढा दिया? पूछने लगाः भई मामला क्या है? उसने क्या किसी का माल मार लिया है? किसी की जमीन दबा ली है? गाँव परगना छीन लिया है? काशी के हिंदू मुसलमान प्रतिनिधियों का जवाब लाजवाब है। लाजवाब और दो टूक। उनकी माँग भी उतनी

ही स्पष्ट है: इस 'अमारग' चलने वाले, हिंदू, मुसलमान दोनों से न्यारा चलने वाले (आजकल के मुहावरे में, 'भावनाओं को ठेस' पहुँचाने वाले) कबीर को फौरन काशी से निकाल दिया जाए:"

नाटक में यह भी प्रमाणित होता है कि भीष्म साहनी ने नाटक में जो दिखाया है वह सर्वदा कबीर के व्यक्तित्व और उनके कृतित्व के अनुकूल है। कबीर की आवाज को दबाने के लिए अंधे भिखारी को पीट-पीट कर मारा जाता है। कबीर को मारना मुश्किल था क्योंकि यह बात जग जाहिर थी कि कबीर की आवाज हाकिम, कोतवाल, महंत, मौलवी सभी की आँखों में खटकती है। कबीर के साथ जन समर्थन भी है इसलिए उन्होंने अंधे भिखारी को मार दिया। जिससे सबको यह सबक मिले कि दिन की तौहीन सल्तनत की तौहीन है।

"कोतवाल—इससे सभी को कान हो जाएंगे जब उसकी लाश गली-गली में ले जाई जायेगी और साथ में सरकारी आदमी होगा तो अपने आप दहशत फैलेगी..."

इसके बाद कबीर और उसके साथियों ने सत्संग भी करना शुरू कर दिया और भंडारा भी लगाना शुरू कर दिया। पहले कबीर का परिवार उसके खिलाफ था किंतु बाद में पूरा परिवार उसका साथ देता है। नाटक में कबीर के बहुत सारे पद शामिल किये गये हैं जिससे भक्तिकालीन परिवेश की निर्मित होती है। कथानक में भाव प्रवणता है। घटनाओं का समुचित गुंफन है।

यह नाटक कबीर के व्यक्तित्व को बखूबी चित्रित करता है। यह तथ्य बिल्कुल मिथ्या है कि इस नाटक में केवल कबीर के सामाजिक पक्ष को उभारा गया है। नाटक में स्पष्ट होता है कि कबीर के सामाजिक पक्ष का आधार आध्यात्मिक पक्ष ही है। उसका अध्यात्म हाकिम की समझ से बाहर है। जिसके कारण कबीर का बार-बार विरोध किया गया। किंतु सूर्य को मुट्ठी में बाँधकर नहीं रखा जा सकता उसका प्रकाश स्वतः ही चारों ओर फैलता है।

'कबिरा खड़ा बज़ार में' नाटक की भाषा भी अद्भुत है। वह पात्रानुकूल, प्रवाहमयी व पात्रों के चरित्र को गति देने वाली है। नाटक में कहीं-कहीं यह भी चर्चा हुई है कि कबीर ने भाषा के सौंदर्य की अपेक्षा भाव को प्राथमिकता दी है। इसलिए उनकी भाषा सधुक्कड़ी भाषा थी जिसमें अन्य भाषाओं के शब्द भी थे। फारसी के शब्दों का प्रयोग भी नाटक में हुआ है जैसे—फकीर मुनासिब, मुलाकात, बदअमनी, मजहब, सुल्तान, बादशाह, कोतवाल, फलसफा, हैसियत, मुबाहिसा आदि। नाटक में देशज शब्दों का भी प्रयोग हुआ है जैसे—बक्स, भला मानुष, टंगड़ी, गुर्जर, शास्त्र, रथ, रेजना, कर्म, फुटावल, खुडुच, व्यापार, बुझावल, खटिया, दुरगत, गिरस्ती, कमीन, बढ़ाना, डांगर, मानस। नाटक में मुहावरों का भी स्थान-स्थान पर प्रयोग हुआ है—जैसे जान सांसत में आना, पैरों में बेड़ियाँ पड़ना, डूब मरना, धुकधुकी लगना, न दीन के रहे न जहाँ के, साँप पालना, आँख फड़कना , सर पर सवार होना, भूखो मरना, औकात में रहना, दिल दहलना, बकबक करना आदि। नाटक का अंत कबीर के इस पद के साथ हुआ है -

"मोको कहाँ ढूँढे बंदे मैं तो तेरे पास में
ना मैं देवल नाम मैं मस्जिद ना काबे कैलास में"

संदर्भ ग्रंथ सूची

- क्रांतिकारी कबीर—गोविंद लाल छाबड़ा
- अकथ कहानी प्रेम की—पुरुषोत्तम अग्रवाल
- कबीर—डॉक्टर धर्मवीर भारती
- कबीर ग्रंथावली—हजारी प्रसाद द्विवेदी
- हिन्दी साहित्य का इतिहास—डॉक्टर नगेंद्र
- कबीर विचार और दर्शन—एस.एस. गौतम
- कबीर परिचय—अभिलाष दारा

असिस्टेंट प्रोफेसर
मैत्रेयी महाविद्यालय, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

●

इंटरनेट से साभार

स्त्री विमर्श के संदर्भ में नादिरा ज़हीर बब्बर का नाटक ''जी, जैसी आपकी मर्ज़ी...''

नीतू जय सिंघानी

20वीं शताब्दी की सबसे बड़ी उपलब्धि है स्त्री स्वतंत्रता की माँग। सदियों से समाज में स्त्री दमित, शोषित और दोयम दर्जे की व्यक्ति रही है। उसे आमतौर पर भोग-विलास और सन्तानोत्पत्ति की वस्तु ही माना गया है। धर्म और विवाह जैसी संस्थाओं ने उसे नित नये और कठोर बंधनों में जकड़ा और पुरुष को स्वामी तथा स्त्री को दासी बनाए रखने का काम किया है। सामाजिक व्यवस्था में संयुक्त परिवार की नैतिकता और मर्यादा में स्त्री का दमन चक्र कायम रहा। समय के साथ स्त्री दमन के स्वरूप बदलते रहे। आधुनिक स्त्रियों ने शिक्षित और जागरूक होकर इस दमन चक्र को संगठित तौर पर चुनौती देना शुरू कर दिया। साहित्य में भी स्त्री के इस प्रतिरोधी तेवर की अनुगूँज जोर-शोर से सुनाई देने लगी।

साहित्य का अवधारणात्मक शब्द 'स्त्री विमर्श' स्त्री के अपने होने, मन और देह पर अपनी आजादी और आर्थिक-सामाजिक से कहीं अधिक अपने को एक स्वतंत्र जैविक सत्ता के रूप में स्थापित करने की माँग को लेकर सामने आया। यह विमर्श एक गंभीर, संवेदनशील और बहुआयामी विषय को अपने भीतर अंतर्निहित करता है। दैहिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक संदर्भ इस विमर्श के महत्त्वपूर्ण आयाम हैं। स्त्री के लिए समानता, सम्मान व न्याय की प्राप्ति और सभी प्रकार के शोषण से मुक्ति स्त्री विमर्श का नारा है। हिन्दी नाटकों में स्त्री विमर्श के ये प्रश्न व्यापक फलक पर चित्रित हुए हैं। इस दृष्टि से भारतेंदु का 'नीलदेवी' नाटक मील का पत्थर है। इसकी भूमिका में भारतेंदु ने स्पष्ट किया है कि स्त्री का शिक्षित और जागरूक होना जरूरी है। स्त्री प्रश्न की दृष्टि से 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस नाटक में पहली बार एक जागृत, आत्माभिमानी नारी का चित्रण किया गया है। स्वतंत्रता के बाद सामाजिक-राजनीतिक जीवन में स्त्री की बदलती तस्वीर की एक छवि लक्ष्मीनारायण लाल के 'मादा कैक्टस' और विष्णु प्रभाकर के 'डॉक्टर' नाटक में मिलती है, जिसमें परित्यक्ता नायिकाएँ शिक्षित होकर आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनती हैं। स्त्री को अपना निजी, स्वतंत्र और स्वायत्त व्यक्तित्व पहली बार सुरेन्द्र वर्मा के नाटक 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' में शीलवती को प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त सुरेन्द्र वर्मा का 'शकुंतला की अँगूठी' रमेश बक्शी का 'देवयानी का कहना है', भीष्म साहनी का 'माधवी', मन्नू भंडारी का 'बिना दीवारों के घर', कुसुम कुमार का 'सुनो शेफाली', इरपिन्दर पुरी का नाटक 'बलमजी तुम आगे मैं पीछे', त्रिपुरारी शर्मा का 'बहू' और 'रेशमी रूमाल', मीरा कांत का 'उत्तर प्रश्न' और 'नेपथ्य राग' आदि नाटकों में स्त्रियों की घुटन, कुंठा, पीड़ा और विडंबनाओं का व्यापक चित्रण किया गया है। नारी जीवन के यह स्वर समकालीन युग में और भी धारधार और सशक्त रूप में अभिव्यक्त हो रहे हैं। यह अभिव्यक्ति युग के अनुरूप हैं। जैसे-जैसे स्त्री चेतना सबल हो रही है, स्त्री हकदारी की माँग भी मुखरता से उठाई जा रही है। स्त्री विमर्श की दृष्टि से ऐसा ही एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है नादिरा ज़हीर बब्बर का नाटक 'जी, जैसी आपकी मर्ज़ी...'। यह नाटक पारंपरिक सोच के दायरे में घुटती सिसकती नारी के उठ खड़े होने की कहानी कहता है।

शिक्षाविद् कृष्ण कुमार की राजकमल से प्रकाशित 'चूड़ी बाजार में लड़की' पुस्तक स्त्री शोषण के नये आयाम पर रोशनी डालता है। इसमें दिखाया गया है कि लड़की के लालन-पालन में उपेक्षिता और बाद में उपयोगिता और उपभोग्यता के भाव पैदा करके एक संतुलित आत्मा के विकास का रास्ता बंद कर दिया जाता है। इस कृति का भाव साम्य नादिरा जी के नाटक 'जी, जैसी आपकी मर्ज़ी...' से किया जा सकता है। नाटक में स्त्री जीवन की उपेक्षा और भोग्या स्थिति के अनुभवों को दिखाया गया है। नाटक में कुल चार स्त्री पात्र हैं। पहली दीपा जिसकी उम्र 9 से 13 वर्ष है। दीपा के जरिये परिवार में लड़कियों के लालन-पालन में बरती जाने वाली उपेक्षा का चित्रण किया गया है। घर में बेटा महत्त्वपूर्ण है। बेटियाँ अवांछनीय हैं। इसलिए उनकी शिक्षा, बीमारी के इलाज आदि पर खर्च करना व्यर्थ माना जाता है। दूसरी स्त्री पात्र है वर्षा, जिसकी आयु 22 साल है। तीसरी स्त्री सुल्ताना, उम्र 38 साल। तथा चौथी स्त्री बबली टंडन उम्र 26 साल है। ये तीनों स्त्रियाँ नाटक में आगे चलकर पुरुष के लिए उपयोगिता और भोग्या वस्तु के रूप में चित्रित हैं। नाटक मे चार अलग-अलग स्त्री पात्रों के जरिये वास्तव में स्त्री जीवन के विभिन्न चरणों में होने वाले शोषण को रेखांकित किया गया है। हमारे समाज में लड़की बालिका हो, युवती हो, प्रौढ़ा हो, विवाहिता हो, अविवाहिता हो- हर स्तर पर शोषित होने को अभिशप्त है। भले ही आज का समाज बाहरी रूप से बहुत आधुनिक हो गया हो, लेकिन भीतर ही भीतर इसकी नींव आज भी सामंती संस्कारों पर ही टिकी हुई है। खासतौर से स्त्री के प्रति पुरूष का रवैया पूर्णतः सामंतीय सोच से संचालित है जिसमें स्त्री उसकी गुलाम है, उपभोग की वस्तु है। पुरूष परिवार रूपी संस्था का मालिक है और स्त्री दासी है।

नाटक के कवर पेज पर डोर से बँधी चार स्त्री कठपुतलियों का चित्र दिखाया गया है। नाटक के पहले पेज के आरंभिक रंग संकेत में भी नादिरा जी ने लिखा है—''नाटक शुरू होने से पहले कठपुतली

नृत्य की धुन बजती है। दो कठपुतली नर्तक मंच पर आते हैं जिन्होंने एक लंबे डंडे पर परदा बाँधकर कठपुतलियों को लटकाया हुआ है।'' यहाँ कठपुतलियों का सांकेतिक, प्रतीकात्मक प्रयोग किया गया है। हमारे समाज में स्त्री की स्थिति कठपुतली के समान है जिसकी डोर पुरुष सत्ता या मनुवादी पितृसत्ता के हाथ है। स्त्री को वही करना है, वैसे ही जीना है जैसा पुरुष समाज चाहता है। उसके पास इनकार या विरोध करने का विकल्प नहीं है। उसे मालिक रूपी पुरुष की हर इच्छा को- 'जी, जैसी आपकी मर्ज़ी...' के रूप में स्वीकार करना पड़ता है क्योंकि उसकी तो अपनी कोई मर्जी हो ही नहीं सकती। मर्जी यानी इच्छा तो सजीव प्राणियों की होती है। स्त्री का अस्तित्व तो सदियों से उपभोग की वस्तु के रूप में ही स्वीकारा गया है। वस्तु की अपनी कोई इच्छा नहीं होती। वह दूसरों को सुविधा देने के लिए होती है। ठीक ऐसे ही स्त्री के जीवन का एकमात्र लक्ष्य है पुरुष को सुख-सुविधाएँ प्रदान करना। उसकी मर्जी पूरी करने के लिए तन, मन, धन से समर्पित होते जाना।

यह नाटक नारी विमर्श की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें नारी जीवन की समसामयिक व्यावहारिक समस्याओं के विविध पक्ष को बड़ी बारीकी से पकड़ा गया है। नाटक में बड़ी ईमानदारी से स्त्री के प्रति समाज की मानसिकता का सच्चा रूप प्रस्तुत किया गया है। यह भी बताया गया है कि कैसे सामाजिक, धार्मिक मान्यताएँ और रूढ़िवादी परंपराएँ स्त्री के लिए दमघोंटू माहौल निर्मित करते हैं। हमारे समाज में पढ़ने का हक, अपने फैसले लेने का हक, अपने तन-मन पर स्वत्व के अहसास की छूट, आज भी ज्यादातर स्त्रियों के लिए सपना मात्र है।

नाटक में सबसे पहले बालिका (7 से 13 साल) दीपा का जिक्र किया गया है। दीपा के जरिये घरेलू स्तर पर बरते जाने वाले लड़के-लड़कियों के भेदभाव और इस आधार पर की जाने वाली परवरिश के अंतर को बताया गया है। परिवार समाज की प्रथम इकाई है और इस प्रथम सीढ़ी से ही स्त्री को स्त्री होने का दण्ड मिलना आरंभ हो जाता है। एक ही परिवार में एक लड़की और उसके भाई को मिलने वाले खान-पान, कपड़े-लत्ते, शिक्षा-दीक्षा की सुविधाओं में जमीन आसमान का अंतर रखा जाता है। बेटे को हर बेहतर चीज उपलब्ध करवाई जाती है। बेटी को जन्म लेने से पहले ही गर्भ में मारने का प्रयास किया जाता है। यदि किसी तरह जन्म ले भी ले तो अपने ही परिवार में दोयम दर्जे के प्राणी का दर्जा मिलता है-

''अस्सी नब्बे पूरे सौ
पाव रोटी बिस्कुट
भैया खाए कुट-कुट
बहिन देखे टुक-टुक
दादी बोले वैरी गुड.....''

परिवार में इस जेंडर आधारित भेदभाव को बढ़ावा देने या पुख्ता करने में सबसे प्रभावशाली भूमिका निभाती हैं दादी, जो स्वयं एक स्त्री है और जिन्होंने अपने बचपन से यौवन तक इसी भेदभाव को सहा है, जो स्वयं अब तक पितृसत्तात्मक व्यवस्था में दबी कुचली रही है। वही स्त्री प्रौढ़ावस्था, और वृद्धावस्था में केंद्रीय भूमिका में आ जाती है और उसी शोषण की परंपरा को आगे बढ़ाने में सहयोग देने लगती है। दरअसल ऐसा पितृसत्ता के दबाव के कारण उसके व्यक्तित्व में ढलकर पुरुष वर्चस्व वाले समाज के अनुरूप हो जाने से होता है। हमारे समाज में पितृसता का दबाव इतना अधिक है कि वह स्त्री को चेतना शून्य बनाकर खुद अपनी ही जाति के अहित की प्रवृति को उकसा देता है और स्त्री को इसका अहसास भी नहीं हो पाता।

बचपन से ही लड़कियों पर घर के कामकाज का बोझ डाल दिया जाता है। उसके खेलकूद पर पाबंदी लगा दी जाती है। हमेशा जोर दिया जाता है कि लड़की को लड़की की तरह पाला जाए। ''चुप रहो, निर्मला लड़की जात है... लड़की की तरह पालो, उसे लड़कों की तरह मिजाज मत दो।'' यानी बचपन से ही लड़की को शोषण, गैरबराबरी चुपचाप सहना सिखाओ। यहाँ सिमोन द बउआ की अत्यंत चर्चित पंक्ति याद आती है—लड़की पैदा नहीं होती, बना दी जाती है। परिवार के स्तर पर ही उसका व्यक्तित्व कुचलकर समाज अपने अनुरूप उसकी संरचना कर डालता है।

ममता कालिया की कविता 'मामी मेरी रोती थी रातों में' एक गंभीर स्त्री समस्या को उठाती है। यह समस्या पुरुष वर्चस्व वाले समाज में स्त्री का स्त्री के प्रति शोषण को हमारे समाने रखती है। इसका कारण स्त्री का मर्दवादी रवैया है जो जीवन जीते हुए उसने पुरुष समाज से सीखा है। कविता ऐसी पत्नी का चित्र सामने रखती है जिसके पति के अन्य स्त्री से अवैध संबंध है। इससे पत्नी बहुत दुखी तो होती है पर इसका जिम्मेदार वह पति को नहीं बल्कि उस स्त्री को मानती है और अपना सारा गुस्सा उसके प्रति प्रकट करती है—

'मन होता है उठा सरौंता दौड़ी जाऊँ
बोटी बोटी कर रज्जो की
उसका सारा रज्जोपन पी जाऊँ
तब मैं कहती,
'मामी तुम कैसी हाकिम हो
मामा जैसी ही जालिम हो।
रज्जो तो तुम जैसी दुखिया
उसके हिस्से भी तो आया
आधा पौना जूठा मुखिया।
मामा को दो सजा अगर इंसाफ चाहिए।'
मामी मेरे कान ऐंठती,
'सिर्री है तू जो मुँह में आया बक देती'
आयेंगे जब मामा
तेरी करूँ शिकायत
सीधी हो जायेगी तेरी सब पंचायत।'

यहाँ मामी दोषी मामा को ही न्यायाधीश की पदवी पर बिठा देती है। यहाँ एक सवाल उठता है कि क्या स्त्रियों में विवेक नहीं है? क्या उसके लिए प्रेम की परिभाषा पुरुष के प्रति एकनिष्ठता और समर्पण ही है चाहे पुरुष लंपट और चरित्रहीन ही क्यों न हो? कहीं स्त्री उसी मध्ययुगीन मानसिकता को ही तो आज भी जी ओढ़ नहीं रही जिसमें 'पद्मावत' की नागमती सबकुछ जानते हुए भी अपने लंपट पति राजा रत्नसेन जो पर स्त्री के लिए घर-बार सब छोड़कर निकल जाता है, के प्रति पूरी तरह समर्पित है और हर हाल में उसका सान्निध्य चाहती है? यहाँ मामी में भी सदियों से पति को परमेश्वर मानने के

संस्कार का प्रभाव है? वास्तव में यह सदियों के रूढ़ संस्कारों का ही नतीजा है जिसके कारण वह अन्याय करने वाली वास्तविक सत्ता को पहचान नहीं पाती। ऐसी स्त्रियों की समाज में कमी नहीं है। ऐसी ही मानसिकता से संचालित है 'जी, जैसी आपकी मर्ज़ी... ' की स्त्री पात्र वर्षा की शोभा काकू। शोभा के पति काम की तलाश में यू. एस. जाता हैं और वहाँ दूसरी शादी कर लेता है। पन्द्रह साल बाद वह अपनी दूसरी पत्नी और उससे होने वाले बच्चों के साथ इंडिया घूमने आता है। उसके मन में चोर है। इसलिए वह घर न आकर होटल में ठहरता है। यहीं वह अपने परिवार के अन्य सदस्यों से मिलने-जुलने की औपचारिकताएँ पूरी करता है, पर अपनी पहली पत्नी शोभा से मिलने में उसकी कोई रुचि नहीं है। जब शोभा काकू को यह सब पता चलता है तो उसके दुःख की सीमा नहीं रहती। अतिशय दुःख में अपना संतुलन खोकर वह अपने हाथ की नसें काट लेती है और अपनी जीवन लीला ही समाप्त कर लेती है। मृत्यु के उपरांत पर्ची पर लिखी उसकी आखिरी इच्छा का पता चलता है- उसका पति ही उसे मुखाग्नि दे। यह सब देखकर वर्षा का खून खौल जाता है। वह शोभा काकू की अंतिम इच्छा जानकर बहुत विचलित होती है। उसे समझ में नहीं आता जो पुरुष स्त्री को इतना अपमानित करता रहा, कभी अपने पाँव की जूती तक नहीं समझा, वह स्त्री उसे इतना ऊँचा दर्जा दे रही! लेकिन भारतीय समाज में ऐसा होना कोई हैरानी की बात नहीं। इसका कारण परंपरा और नैतिकता की चाश्नी में पगी भारतीय स्त्रियों का वह संस्कार है जो उनकी अधोगति के लिए काफी हद तक जिम्मेदार है। भारत में पुरूष परमेश्वर है और स्त्री दासी। स्त्री विमर्श की लड़ाई इस मिथक से भी है। 'जी, जैसी आपकी मर्ज़ी...' नाटक मौन किंतु मुखर रूप से इस लड़ाई का बीड़ा उठाकर चलता है।

वर्षा सोचती है शोभा काकू के पति तो फिर भी पुरानी पीढ़ी के थे। पर आज की पुरुष युवा पीढ़ी की मानसिकता भी कुछ ज्यादा नहीं बदली है। नारी स्वतंत्रता के नाम पर पुरुष ने उसके शोषण की नई राहें ईजाद कर ली हैं। वर्षा का बॉय फ्रेंड जिग्नेश उससे प्यार तो जताता है, शारीरिक संबंध बनाने को भी लालायित है पर शादी अपनी जात-बिरादरी की लड़की से ही करना चाहता है। युवा पीढ़ी का यह दोगला चरित्र गहरी निराशा पैदा करता है। हम आये दिन बलात्कार के समाचारों को सुनते रहते हैं। गहरा विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि स्त्रियों के साथ छेड़छाड़ की वे घटनाएँ पुरुष की निगाह में महज एक मामूली सी घटना है। और ऐसी घटनाओं का ठिकरा भी स्त्री के सिर-माथे ही फोड़ दिया जाता है। यानी स्त्री ने ही भड़ाऊ कपड़े पहने होंगे, जानबूझकर पुरुष को उकसाया होगा वगैरह-वगैरह। समाज की नजरों में स्त्री महज एक वस्तु है। इसलिए उसके साथ क्या व्यवहार और क्या दुर्व्यहार। पुरुष समाज की ऐसी सोच ने स्त्री को हाशिये पर धकेल दिया है और आज वह अपनी पहचान बनाने की जद्दोजहद से गुजर रही है।

'जी, जैसी आपकी मर्ज़ी...' की वर्षा के साथ भी जब पड़ोस की दुकान का लड़का अमृत छेड़छाड़ शुरू करता है तो वह उसे मामूली बात समझ टाल देती है, जिससे अमृत की हिम्मत और बढ़ जाती है। बाद में जब वर्षा पुलिस में शिकायत करने जाती है तो वहाँ भी उसकी सुनवाई नहीं होती। अमृत उसके मुँह पर एसिड फेंकने की धमकी देता है। डरकर वह घर में बंद हो जाती है। कुछ ही दिनों बाद वर्षा को खबर मिलती है कि सब्जी बेचने वाली को भी जब उसी मनचले लड़के ने छेड़ा तो सब सब्जी बेचने वाली औरतों ने मिलकर उसे खूब पीटा। यह घटना वर्षा में एक नयी किस्म की चेतना पैदा करती है। शायद स्त्री विमर्श का यह स्वर भी आज के समय की माँग है। यह घटना एक और बात की तरफ इशारा करती है कि निम्नवर्ग की स्त्रियाँ मध्यवर्ग की स्त्रियों से ज्यादा साहसी हैं और स्त्री विमर्श को आगे ले जाने में वहाँ से एक मजबूत उम्मीद बँधती दिखती है।

नाटक की अगली पात्र बबली है जिसकी उम्र 26 साल है। बबली लुधियाना के आर्थिक रूप से संपन्न परिवार की लाड़-दुलार में पली बेटी है, जिसे अच्छे से अच्छे स्कूल और कॉलेज में शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला है। लेकिन इस चीज का खास ध्यान रखा गया है कि वह स्कूल और कॉलेज केवल लड़कियों के ही रहे हों। उसे हमेशा लड़कों, बॉय फ्रेंड्स जैसी चीजों से दूर रहने के संस्कार दिये गये हैं। मां-बाप के इच्छानुसार उसने अरेंज मैरिज को ही अपने लिए उचित माना। और फिर शुरू हुई शोरूम में रखी चीजों के समान नुमाइश, दहेज का सौदा आदि। वस्तु के रूप में बबली की नुमाइश करते हुए उसके गुण बताये गये कि वह घरेलू और सुशील है। सुशील यानी वर्जिन है। जो पुरुष शादी से पहले लड़की से पूरी यौन शुचिता की माँग करता है। वही विवाह के बाद चाहता है, लड़की सेक्स में अनुभवहीन न हो। पुरुष के ये दोहरे मापदंड हर दिन स्त्री को मरने पर मजबूर कर देते हैं। वह बिस्तर पर पति को खुश करने के लिए हर नाटक करती है पर खुद अतृप्त रहकर भी, अपनी इच्छा तक जाहिर नहीं कर सकती - ''मैंने अपनी दीदी की बताई सारी बातें फॉलो की और इन सबसे मेरे पति संतुष्ट नहीं हुए। पर मेरी खुशी...? मेरी भी तो तमन्नाएँ हैं और मेरा भी तो जिस्म है, इसकी भी कुछ इच्छाएँ हैं। सारा जीवन एक नाटक की तरह तो नहीं जिया जा सकता।"[5] यहाँ हम देखते हैं कि विवाह रूपी संस्था में रहकर भी स्त्री की यौन इच्छाएँ कई बार पूरी नहीं हो पाती। और वह घुट-घुट कर जीने को मजबूर रहती है। यह प्रश्न गहराई से स्त्री की पूरी इयत्ता से जुड़ा प्रश्न है। क्योंकि यदि वह सेक्स के बारे बात करती है, इच्छा जाहिर करती है, तो चरित्रहीन और कुल्टा होने का तमगा लगते देर नहीं लगती। डा. राममनोहर लोहिया यह मानते थे कि नैतिकता युग सापेक्ष और व्यक्ति सापेक्ष भी होती है। और हर एक व्यक्ति को अपनी नैतिकता तय करने का पूरा अधिकार है। वे एक दर्जन वैध बच्चे पैदा करने वाली स्त्री से एक अवैध बच्चा पैदा करने वाली स्त्री को अच्छा मानते हैं। डा. लोहिया स्त्री की बदहाली के कारणों में 'यौन शुचिता' की कट्टरता को भी एक बड़ा कारण मानते हैं। लोहिया जी के विचार स्त्री विमर्श के निकष पर बड़े खरे माने जाते हैं। नादिरा ज़हीर बब्बर की 'जी, जैसी आपकी मर्ज़ी...' की बबली सामाजिक यौन नैतिकता के कटघरे को तोड़ नहीं पाती और दुःख सहती है। हालांकि 'पुरुष नैतिकता' और 'यौन शुचिता' के खोल में रहने के बावजूद उसे पति का सच्चा प्यार नहीं मिल पाता। उसे पता चलता है कि उसके पति के विवाहेत्तर संबंध हैं। शुरू में यह सच जानकर उसे लगता है कि वह विद्रोह करे, विरोध करे। पर धीरे-धीरे विरोध का भाव कुन्द होने लगता है। उसे याद आती है शादी के समय माँ

की वह सीख जिसमें हर हाल में पति को खुश रखने की नसीहत दी गई थी। वह महसूस करती है कि पति को खुश रखने के लिए उसका अंधी, बहरी और गूँगी बनना जरूरी है। और यही संस्कार तो सदियों से स्त्री को दिये जाते रहे हैं। जो स्त्रियाँ इन संस्कारों को मानने से इंकार कर देती हैं, उन्हें समाज बदचलन, कुल्टा और परिवार तोड़ने वाली कहकर अच्छा नहीं मानता—

''तुमने मिथक में इतिहास मिलाया
उसमें धर्म का छौंक लगाया
और चूहा मार दवा सा मेरे गले के नीचे उतार दिया
मैं जीने लगी वेद, पुराण और मनुस्मृति।
मुझे सीता, सावित्री, उमा और अनुसूया की तरह बनना अधिक भाया।
मैंने शंकुतला जितना जोखिम भी नहीं उठाया,
लक्ष्मीबाई को मैंने चेतना से निकाल दिया।
विरोध का विचार तक जेहन से निकाल दिया।''[6]

एक समझ यह भी है कि स्त्री के गूँगी, बहरी बन जाने के पीछे मजबूरी यह है कि वह दो वक्त की रोटी के लिए पुरुष पर निर्भर है। इसके बदले उसे अपनी मानसिक, शारीरिक सभी तरह की आजादी को पुरुष के हाथों गिरवी रखनी पड़ती है। विरोध करने में भी स्त्री स्वयं को असमर्थ पाती है। उसके पास विरोध की भाषा नहीं है। क्योंकि उसे सदियों से चुप रहना और बिना तर्क किये सबकुछ सहना सिखाया गया है। चुप रहते-रहते वह कई बार समझ ही नहीं पाती कि उसे कहाँ बोलना है। आज के टीवी धारावाहिकों में भी हम देखते हैं कि अच्छी बहू वही है जो सबकुछ सहकर, कुछ न बोलकर घर गृहस्थी को सँभाल रखा है, भले ही ऐसा करने में उसकी अपनी आजादी, अपनी इच्छा होम हो गई हो। पुरुष समाज का हवाला देकर स्त्री को हर पल चुप रहना सिखाया जाता है क्योंकि अभिव्यक्तिहीन स्त्री का शोषण सहजता से किया जा सकता है—

''जिन सवालों पर सच्चाई से मुँह खोला
उन पर बवाल मचा
जब जब लगाई चुप
अच्छी औरत का खिताब मिला
चुप्पी और चालाकी में गहरा नाता है
औरत का बोलना घर को नहीं भाता है
चुपचाप करते रहें उसके हाथ पाँव काम
उसके शब्दकोश में हो बस दो शब्द
'जी हाँ', और 'हाँ जी' ''[7]

दहेज विरोधी कानून हमारे देश में कई वर्षों पूर्व बन चुका है। लेकिन आज भी यह समस्या किसी न किसी रूप में बनी हुई है। चाहे शादी-ब्याह में दी जाने वाली नकद रकम के रूप में या शादी की धूमधाम में लगने वाली बड़ी रकम के रूप में। आज भी धनाभाव के कारण गरीब परिवारों की लड़कियों को योग्य वर नहीं मिल पाता है। ऐसी ही एक स्थिति में नाटक की पात्र बबली की सीबो चाची का विवाह मेंटली चैलेज यानी मानसिक रूप से अक्षम व्यक्ति से हो जाता है। और यह स्थिति भारतीय समाज की एक जीती जागती सच्चाई है जिसे गाँव, कस्बे और महानगर हर कहीं देखा जा सकता है। स्त्रियाँ अपनी खुशी और सपनों की ऐसी कुर्बानियाँ देने के लिए बाध्य हैं क्योंकि पुरुष वर्चस्व वाला समाज ऐसा ही चाहता है ताकि उनकी निरंकुश सत्ता कायम रहे। औरत चाहे सिक्ख हो या ईसाई, हिंदू हो या मुस्लिम, हर आयु और धर्म की औरतों को पितृसत्तात्मक समाज ने अपने शिकंजे में कस रखा है।

नाटक की चौथी स्त्री पात्र है सुल्ताना जिसका विवाह 10 वर्ष की आयु में अपने से दस साल बड़े पुरुष से कर दिया जाता है। उसे अल्पायु में ही पति का यौन शोषण सहना पड़ता है। कह सकते हैं मन-बेमन वह पुरुष के हवस का शिकार बनती रहती है और 20 वर्ष की आयु में ही लगातार चार बेटियों को जन्म देने के कारण यौवन के ढलान को महसूस करने लगती है। अब उसमें वह बात नहीं, इसलिए सुल्ताना को उसका पति तलाक दे देता है। सुल्ताना इस तलाक से भीतर से टूट जाती है, लेकिन उसकी अस्मिता और इयत्ता की परवाह पुरुष समाज को भला क्यों महसूस हो। सुल्ताना मन मसोसकर इतना भर सोच पाती है कि ''ये क्या बात है? जब चाहा बस औरत को तीन बार तलाक बोला और घर से बाहर निकाल दिया।''[8]

पति नामक सामाजिक सुरक्षा की दहलीज से बाहर निकलकर सुल्ताना अब बेचारी है। औरत की इसी बेचारगी पर पुरुष मानसिकता इतराती है। और बात-बात पर उसे छोड़ देने की धमकी और अन्य तरह की प्रताड़नाएँ देने से गुरेज नहीं करती। इसीलिए स्त्री विमर्शकारों ने औरत की जमीन तलाशने की कोशिश की है। औरत का अपना क्या? घर पति का, संतान पति के खानदान/वंश का, रुपया-पैसा अगर औरत कमाती हो तो, सबकुछ परिवार का। स्त्री का न तो पिता का घर अपना रहता है और न ही विवाह के बाद ससुराल ही उसका अपना हो पाता है। हाँ! कहने के लिए तो वह परिवार की रानी होती है, पर वास्तविकता इसके उलट होती है। वास्तविक हक अधिकार से मिलता है जिसपर स्त्री को हर जगह से खाली हाथ ही लौटना पड़ता है।

'जी, जैसी आपकी मर्ज़ी' नाटक की सुल्ताना भी अधिकार विहीन थी। इसीलिए जब चाहा पति ने उसे भोगा और जब चाहा किसी बेकार वस्तु की तरह फेंक दिया। अब उसके सामने मनुष्य की बुनियादी समस्या है। उसकी सबसे बड़ी चिंता पेट पालने की है, अपने और अपनी बेटियों का। सो वह लोगों के घर चौका-बर्तन कर किसी तरह गुजर-बसर करने करती है। किंतु यहाँ भी उसे अपनी जिंदगी जीने की आजादी नहीं। उसे अपने ही घर-परिवार के दबाव में एक बदचलन हकीम साहब से निकाह करनी पड़ती है। जब हकीम ने सुल्ताना की बेटी को भी अपनी हवस का शिकार बना डाला तो सुल्ताना आपा खो बैठती है। गुस्से से आग बबूला होकर वह हकीम साहब की हत्या कर डालती है। कानून उसे जेल की सजा देता है। जेल काटकर सुल्ताना लौटती है और फिर से अपनी बच्चियों की शिक्षा का प्रयास करती है। जिंदगी फिर से पटरी पर आने लगती है। उसकी शिक्षित सुशील बेटी के लिए कई रिश्ते आते हैं पर जैसे-जैसे लड़के वालों तक यह बात पहुँचती है कि सुल्ताना की बेटी स्त्री-पुरुष समानता की समर्थक है, लड़के वालों में खलबली-सी मच जाती है और रिश्ते आने भी बंद हो जाते हैं। यह है हमारे समाज की एक कड़वी सच्चाई।

सुल्ताना में नारी चेतना का एक स्पष्ट स्वर है, पर सामाजिक

परंपराएँ रीति-रिवाज उसकी दिशा को मुकम्मल नहीं होने नहीं देते। नाटक में एक स्थान पर वह बबली को स्वेटर का न समझ में आने वाला हिस्सा उधेड़ कर नया नमूना बुनने की राय देती है। दरअसल यह नमूना समाज में स्त्री की स्थिति बदलने का एक संकेत है। परंतु इस संकेत को व्यावहारिक धरातल पर उतारने में कई बाधाएँ हैं। जीवन की बुनियादी जरूरतें, पुरुष वर्चस्व की मजबूत दीवार इन सब को लाँघना और स्त्री स्वतंत्रता की बात करना आसान नहीं। सुल्ताना की मुख्य चिंता अपनी बेटी के ब्याह की है। यहाँ यह सोच कर चकित होना पड़ता है कि विवाह संस्था के भीतर इतनी यातना झेल चुकने के बाद भी सुल्ताना के पास विवाह का कोई अन्य विकल्प अपनी बेटी के लिए क्यों नहीं है? दरअसल यह स्त्री विमर्श का एक सवाल है जिसका उत्तर अभी दिया जाना बाकी है।

स्त्री शोषण का एक धारदार हथियार है उसके रंग-रूप की उलाहना देना। 'जी, जैसी आपकी मर्ज़ी...' की सुल्ताना के जरिए रंग भेद की समस्या को भी चित्रित किया गया है। लड़की का रंग गोरा होना जरूरी है। पुरुष भले ही स्वयं कुरूप हो पर उसे भी गोरी, सुंदर लड़की से ही ब्याह करना है क्योंकि आज भी नारी की पहचान पुरुष की नजर में उसकी सुंदर देह में है।

नाटक में नारी जीवन की समस्या का कोई ठोस हल अंत तक नहीं दिखाया गया है। दरअसल नादिरा जी का मुख्य उद्देश्य नारी जीवन के ज्वलंत प्रश्नों को बेबाक तरीके से सामने रखना और पाठक समुदाय के मन में स्त्री स्वर के प्रति एक गहरी संवेदना उत्पन्न करना है। सही मायने में साहित्य का मूल कर्म ही संवेदना उत्पन्न करना होता है। नादिरा जी इस नाटक में नारी जीवन की विडंबनाओं के कई चित्र हमारे सामने रखती जाती हैं और नाटक के अंत में चारों नारी पात्रों को कठपुतली के रूप में नृत्य करती दिखाती हैं। कठपुतलियाँ यहाँ प्रतीकात्मक रूप में आई हैं। नाटक की स्त्रियाँ गूंगी, बहरी, लाचार और बेचारगी की प्रतीक हैं। उनका दोष इतनाभर है कि वे स्त्रियाँ हैं। इस नाटक में दिखाया गया है कि स्त्री चाहे किसी भी आयु और किसी भी धर्म की हों, कठपुतली की तरह संचालित होना उनकी नियति है। इस नियति से उन्हें मुक्ति कैसे मिल पायेगी, उनकी अस्मिता और स्वतंत्रता की आवाज कब तक मुखर हो पायेगी, इन सबका उत्तर तो अभी दिया जाना बाकी है। फिर भी इस दिशा में बढ़ाये जाने वाला एक-एक सार्थक कदम मील के पत्थर साबित होंगे, इसमें कोई संदेह नहीं है। इसीलिए निःसंकोच कहा जा सकता है कि नादिरा ज़हीर बब्बर कृत यह 'नाटक जी, जैसी आपकी मर्ज़ी...' भले ही कलेवर में छोटा है पर इसमें स्त्री जीवन के विविध आयामी रूप-रंग पूरे उभार के साथ उजागर हुए हैं जिससे स्त्री-संघर्ष को समझने और स्त्री विमर्श को एक मुकम्मल स्वर देने में काफी उम्मीदें जागती हैं। इसीलिए यह नाटक स्त्री मुक्ति का मुखर दस्तावेज बनकर हमारे सामने आया है।

संदर्भ ग्रंथः

- नीलदेवी—भारतेन्दु समग्र, संपादन- हेमन्त शर्मा, प्रचारक ग्रथावली परियोजना, हिन्दी प्रचारक संस्थान, पो. बॉ. 1906, पिशाचमोचन, वाराणसी-221001, पृ. 478.
- भारत जननी—वही, पृ. 471.
- सती प्रताप - वही, पृ. 536.
- रत्नावली - वही, पृ. 300.
- ध्रुवस्वामिनी - जयशंकर प्रसाद, प्रकाशक तथा विक्रेता - भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद
- बीसवीं शताब्दी का हिन्दी नाटक और रंगमंच - गिरीश रस्तोगी, भारतीय ज्ञापनीठ, तीसरा संस्करण 2018
- बहू / अक्स पहेली - राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
- रेशमी रूमाल - त्रिपुरारी शर्मा, मेधा बुक्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली
- उत्तर प्रश्न - मीराकांत, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली
- नेपथ्य राग - मीराकांत, ज्ञानपीठ वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

संदर्भ

1. 'जी, जैसी आपकी मर्ज़ी...' नादिरा ज़हीर बब्बर, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2008, पृ.1
2. वही, पृ.2
3. वही. पृ.5
4. 'खांटी घरेलू औरत' - ममता कालिया, वाणी प्रकाशन, पृ. 83
5. 'जी, जैसी आपकी मर्ज़ी...' नादिरा ज़हीर बब्बर, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2008, पृ.38
6. 'खांटी घरेलू औरत' - ममता कालिया, वाणी प्रकाशन, पृ.88
7. वही-पृ.18
8. जी, जैसी आपकी मर्ज़ी...' नादिरा ज़हीर बब्बर, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2008, पृ.31

एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, आर्यभट्ट कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय

●

नादिरा बब्बर का नाटक 'सकुबाई' : आर्थिक विषमता और सामाजिक विसंगतियों का प्रिज्म

संदीप सो. लोटलीकर

सारांश–नादिरा बब्बर का नाटक सकुबाई आर्थिक विषमता और सामाजिक विसंगतियों का सजीव चित्रण करता है। यह नाटक निम्न वर्ग की महिलाओं की कठिनाइयों और संघर्षों को दर्शाते हुए श्रमजीवी वर्ग की रोजमर्रा की जिंदगी पर प्रकाश डालता है। सकुबाई, एक घरेलू सहायिका, अपने जीवन के उतार-चढ़ाव को दर्शकों के सामने प्रस्तुत करती है। गरीबी, शोषण, और सामाजिक असमानताओं के बीच, वह अपने आत्मसम्मान और जिजीविषा को बनाए रखती है।

नाटक में सामाजिक पाखंड, अमीरों की अतिरिक्त धनलालसा, और महिलाओं के खिलाफ बढ़ते अपराधों की ओर इशारा किया गया है। नादिरा बब्बर ने विवाहेतर संबंध, यौन उत्पीड़न और महिलाओं की सुरक्षा जैसे संवेदनशील मुद्दों को भी संबोधित किया है। इसके माध्यम से लेखिका महिलाओं को आत्मनिर्भरता और अपने अधिकारों के प्रति सजग रहने का संदेश देती हैं।

यह नाटक केवल एक महिला के जीवन की कहानी नहीं है, बल्कि समाज के अन्यायपूर्ण ढांचे की आलोचना करता है और समानता, गरिमा, और अधिकारों के लिए एक सशक्त आह्वान है।

बीज शब्द–सामाजिक बदलाव, श्रमजीवी वर्ग, आर्थिक विपन्नता, सामाजिक असमानताएँ, आत्मसंघर्ष, यौन शोषण, विवाहेतर संबंध, नारी अस्मिता, मानवीय संवेदनाएँ।

नादिरा बब्बर भारतीय थिएटर और हिन्दी सिनेमा की एक प्रसिद्ध हस्ती हैं। प्रसिद्ध साहित्यकार सज्जाद ज़हीर और रजिया सज्जाद ज़हीर की बेटी नादिरा ने 1971 में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (एनएसडी) से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। एनएसडी में वे स्वर्ण पदक हासिल करने वाली छात्रा रहीं। इसके बाद, छात्रवृत्ति पर जर्मनी गईं, जहाँ उन्होंने ग्रोटोविस्की और पीटर ब्रूक्स जैसे विख्यात निर्देशकों के साथ काम कर अपने कला कौशल को और निखारा।

सन् 1981 में उन्होंने 'एकजुट' नामक थिएटर समूह की स्थापना की, जो आज हिन्दी रंगमंच का एक महत्त्वपूर्ण नाम बन चुका है। अपने थिएटर करियर की शुरुआत नादिरा ने नाटक 'यहूदी की लड़की' से की, जो एकजुट का पहला प्रोडक्शन था। इस नाटक ने पारसी थिएटर शैली को नये सिरे से परिभाषित किया और इसे रंगमंच की बेहतरीन प्रस्तुतियों में शामिल किया जाता है। इसके अलावा, उन्होंने शांता गाँधी द्वारा लिखित 'जस्मा ओड़न' जैसे नाटकों को भी मंच पर प्रस्तुत किया।

पिछले लगभग चालीस वर्षों में एकजुट ने की नाटकों का मंचन किया है। इनमें 'संध्या छाया', 'लुक बैक इन एंगर', 'बल्लभपुर की रूपकथा', 'बात लाट की हालात की', 'भरम के भूत', 'शाबाश अनारकली' और 'बेगम जान' जैसे चर्चित नाटक शामिल हैं। नादिरा बब्बर ने अपने स्वयं के लिखे नाटकों का निर्देशन भी किया है, जिनमें 'दयाशंकर की डायरी', 'सकुबाई', 'सुमन और सना' और 'जी जैसी आपकी मर्जी' प्रमुख हैं। उन्होंने थिएटर को नई दिशा देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। उनकी लेखनी और निर्देशन ने भारतीय रंगमंच को समृद्ध किया है। आपके अद्वितीय योगदान के लिए उन्हें संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया, जो उनके रंगमंचीय सफर की विशेष उपलब्धि है।

'सकुबाई' नाटक में लेखिका ने एक ऐसी महिला की कहानी को उजागर किया है, जो आर्थिक तंगी के चलते अपनी माँ के साथ गाँव से मुंबई शहर आती है। यह नाटक शहरी भारत के निम्न वर्ग की रोज़मर्रा की ज़िंदगी का चित्रण करता है। सकुबाई एक कामवाली बाई के रूप में अपने जीवन का नाटकीय एकालाप प्रस्तुत करती है, जिसे आमतौर पर हमारे शहरों और कस्बों के घरों में एक अपरिहार्य घरेलू सहायिका के रूप में देखा जाता है। इस वर्ग की लड़कियाँ छोटी उम्र में ही रोजी-रोटी कमाने के लिए मजबूर हो जाती हैं। इसके बावजूद उनके भीतर जीवन को खुशियों से भरपूर बनाने की प्रबल इच्छा जीवित रहती है। वे अपनी परिस्थितियों से हार मानने की बजाय हर पल को उत्साह और उमंग से जीती हैं। सकुबाई एक बेहद जिंदादिल औरत की कहानी है, जो हल्के-फुल्के अंदाज में जीवन के विविध रंगों से परिचित कराती है। यह नाटक हमें सिखाता है कि परिस्थितियाँ चाहे जितनी भी कठिन क्यों न हों, जीवन जीने का जज्बा और खुश रहने की कला हमें हमेशा आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है।

सकुबाई का किरदार संघर्षों और चुनौतियों से भरा हुआ है, लेकिन वह हर मुश्किल का डटकर सामना करती है। अपने जीवन की कठिनाईयों के बावजूद, वह अपनी मालकिन के घर को कुशलता से संभालती है। नाटक में वह दर्शकों के सामने अपने जीवन के उतार-चढ़ाव को साझा करती है और अपने अनुभवों के माध्यम से एक अद्वितीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। सकुबाई के लिए, यह कहानी कहने की प्रक्रिया उसकी अपनी सांत्वना और शक्ति का स्रोत बनती है। नादिरा जी ने इस किरदार के माध्यम से श्रमजीवी वर्ग की महिलाओं की कठिनाइयों को उजागर करते हुए धनिकों के काले कारनामों का भी पर्दाफाश किया है।

सकुबाई की जिंदगी आर्थिक विपन्नता और उससे उत्पन्न सामाजिक व पारिवारिक संघर्षो का एक करुण और मनोवैज्ञानिक चित्रण है।

गरीबी के कारण ही उसे बचपन में घर की पूरी जिम्मेदारी उठानी पड़ी और शिक्षा जैसे मौलिक अधिकारों से भी वंचित रहना पड़ा। बचपन की इस व्यथा को वह याद करते हुए कहती है, "जब मैंने होश संभाला तब से मैं आई के साथ काम पर लग गई।... बाउड़ी से पानी लाना। छोटे भाई बहिन को देखना। आँगन बुहारना।... मैं पाठशाला जाने के लिए बहुत रोई थी। इस पर मेरी माँ ने जोर से एक थप्पड़ मेरे गाल पर मारा और बोली-

''तू पाठशाला जाएगी? तू पाठशाला जाएगी तो घर का काम कौन करेगा?''

मैं और वासन्ती दोनों पाठशाला नहीं गये। ... हाँ।... नितिन को भेज दिया।... नितिन को तो भेजना ही माँगता। वो लड़का था न. .. नितिन के लिए स्कूल की नई वर्दी, नए जूते, मोजे, बस्ता-विस्ता सब लिया।"[1]

गरीबी की चक्की में पिसते हुए सकुबाई जैसे लोग दूसरों के घर सुधारने में लगे रहते हैं, जबकि उनके अपने घर टूटते रहते हैं। धन की कमी के कारण उनके जीवन में छोटी-छोटी खुशियों और सुविधाओं का भी अभाव रहता है। बच्चों को भरपेट भोजन तक नहीं मिल पाता। मालकिन के बेटे को खिलाने के लिए उसे उसके पीछे-पीछे भागना पड़ता है। सकुबाई की इस पीड़ा को उसके शब्दों में महसूस किया जा सकता है—

"मैं उसके पीछे-पीछे भागती—''बाबा... रौकी बाबा दूध पी लो। रौकी... रौकी बाबा दूध पी लो। रौ-रौकी बाबा बिस्किट। रौकी बाबा बिस्किट।''

अरे बाबा! रौकी बाबा को एक गिलास दूध और चार बिस्किट खिला दिए तो सकुबाई ने बहुत बड़ा काम कर दिया।... और हमारे बच्चे...? हमारे बच्चों का क्या...। हमारे हाथ में एक गिलास दूध और चार बिस्किट हों तो हमारे दस बच्चे हमारे पीछे दौड़ेंगे—

''ए सकया आई देना मला... दे... दे... ना... आई...दे...दे...ना...। एदे... ना... दे... ना...ए... आई सकूया...ए...आई।

सारे बच्चे मेरे पीछे-पीछे।..."[2]

गरीबी में जीवन के हर मोर्चे पर इंसान खुद को असहाय पाता है। एड्स से पीड़ित अपने पति को लेकर जब सकुबाई सरकारी अस्पताल पहुँचती है, तो उसकी बेबसी चरम पर होती है। उसकी यह हताशा केवल सकुबाई की नहीं है, बल्कि उस जैसे अनगिनत गरीबों की है। उन्हें एहसास है कि पैसे के बिना जीवन की गाड़ी नहीं चलती। धर्म और ईश्वर तक पहुँचने से पहले, आज के युग में धन की पूजा करनी पड़ती है। सकुबाई का यह कथन इसकी सच्चाई को बखूबी व्यक्त करता है "मैं और सुमन यशवन्त को लेकर जे. जे. अस्पताल पहुँचे। मैं यशवन्त को उधर बरामदे में बिठा के सुमन को उसके पास खड़ा करके अस्पताल की पर्ची भरने और डॉक्टर से मिलने के लिए दौड़भाग करने लगी...। सरकारी अस्पताल।... सरकारी अस्पताल में न कोई किसी की सुनता है और न ही कुछ बताता है। मैं तो कहती हूँ कि गरीब के बीमार होने से अच्छा है उसका मर जाना। कितनी- कितनी महँगी दवाइयाँ...। सुइयाँ...। डॉक्टर की फीस. ..। तपासी का खर्चा...। फिर फल फ्रूट...। ताकत की गोली। जूस. ..। रोज-रोज आना-जाना... बस का किराया...। ऊपर से छुट्टी...। कहाँ से करेंगे बाबा...।

हम लोग दिन भर उधर ही बैठे रहे।... अस्पताल में।"[3]

इस तरह यह नाटक श्रमजीवी वर्ग की त्रासदी को अत्यंत मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करता है। सकुबाई के माध्यम से नादिरा जी ने यह दिखाया है कि कैसे आर्थिक विषमता न केवल इंसान को शारीरिक, बल्कि मानसिक और भावनात्मक रूप से भी तोड़ देती है।

'सकुबाई' में समाज में व्याप्त विभिन्न विसंगतियों का सटीक चित्रण हुआ है। उन्होंने अपने को सभ्य और पॉश मानने वाले संपन्न वर्ग के पाखंड और ढोंग को उजागर करने के साथ-साथ श्रमिक वर्ग की सच्चाई और ईमानदारी पर भी प्रकाश डाला है। गरीब वर्ग, अपनी कठिन परिस्थितियों के बावजूद, सत्य और ईमानदारी का दामन नहीं छोड़ता। ऊँचे पदों पर बैठे तथाकथित सभ्य लोग अपनी अतिरिक्त धनलालसा के लिए झूठ और फरेब के रास्ते अपनाते हैं। यह वर्ग न केवल गरीबों को आर्थिक रूप से शोषित करता है, बल्कि उनके आत्मसम्मान को भी क्षति पहुँचाने से नहीं हिचकिचाता। समाज में प्रचलित इस भ्रांति को नादिरा जी ने तोड़ा है कि चोरी, छल-कपट, और धोखाधड़ी केवल गरीबों का काम है। उदाहरण के तौर पर, सकुबाई की मेमसाहब की हीरे की अंगूठी उनके सभ्य मित्र द्वारा चुराई जाती है। जब सकुबाई यह बात बताती है, तो मेमसाहब उस पर सीधा आरोप करने से हिचकिचाती है क्योंकि वह एक बहुत बड़े आदमी की पत्नी है। लेकिन सकुबाई बड़ी ही चतुराई से मेमसाहब के मित्र के पर्स से अँगूठी निकालकर उन्हें लौटा देती है, ताकि उस पर चोरी का झूठा आरोप न लगे। इस पर सकुबाई मेमसाहब को जवाब देती है, ''अरे बड़े आदमी की वाइफ को वैसा बड़प्पन भी तो आना चाहिए और फिर अमीर होना बड़प्पन गारण्टी तो नहीं..। साली चोर... मैं मेम साब को बोली-आप चिन्ता मत करो। कोई शोर नहीं होगा। कोई लफड़ा नहीं होगा। आपकी चीज आपके पास आ जाएगी बस।''[4]

आज के तकनीकी युग में हर क्षेत्र में प्रगति हो रही है, लेकिन नैतिक मूल्यों का लगातार पतन हो रहा है। महिलाओं के खिलाफ बढ़ते अपराध, उत्पीड़न और बलात्कार की घटनाएँ इसका प्रमाण हैं। नादिरा जी ने इस तथ्य को उजागर किया है कि आज महिलाएँ न तो अपने घर में सुरक्षित हैं और न ही बाहर। सकुबाई भी केवल पंद्रह वर्ष की उम्र में अपने ही मामा द्वारा बलात्कार की शिकार हुई थी। पुरुषों की इस क्रूर और घिनौनी मानसिकता का बोझ महिलाएँ जीवनभर आत्मसंघर्ष के रूप में उठाती रहती हैं।

बदलते सामाजिक परिवेश में विवाह की परंपरा भी कमजोर पड़ रही है। विवाह करना जितना आसान है, उसे निभाना उतना ही कठिन। सफल वैवाहिक जीवन के लिए त्याग अनिवार्य है, लेकिन आज त्याग की जगह भोग ने ले ली है। कुछ लोग विवाहेतर संबंध बनाकर अपने वैवाहिक जीवन को नष्ट कर देते हैं। नादिरा जी ने उच्च-मध्यम वर्ग के परिवारों में व्याप्त विवाहेतर संबंधों का मार्मिक चित्रण किया है। सकुबाई कहती है, "मैं कॉपी रखकर वापस किचन में आ गई...। और सोचने लगी... कि इसमें और मिश्राइन में क्या अन्तर है...? यही न कि ये इंगरेजी में सबको हाय-हाय करती है।... सबके सामने लोगों से लिपट जाती है। मिश्राइन जो भी करती है वो इसलिए कि उसे उसके बुड्ढ़े आदमी से जो नहीं मिलता वो मेरे आदमी में ढूँढ़ लेती

है।... मगर ये ऐसा क्यों करती है...? इसीलिए न कि इसे काम मिले। दाम मिले। लेकिन ये सब कितने दिन चलनेवाला?... अगर मेम साब को पता चल गया तो वही सब... झगड़ा टंटा... मार-पीट...। और फिर अनपढ़ लोग ही औरतों को नहीं मारते...पढ़े-लिखे भी मारते हैं। एक दिन मेम साब को पता चल गया...और फिर वही हुआ...।"[5]

नाटक सकुबाई समाज के इन तमाम पहलुओं को गहराई से उजागर करता है। यह न केवल गरीबों के संघर्षों की कहानी है, बल्कि सभ्य समाज के पाखंड और दोहरे मानकों को भी सामने लाता है।

वर्तमान युग में नारी अपनी अस्मिता को लेकर पहले से अधिक सजग हो चुकी है। अब वह अपने प्रति होने वाले अत्याचारों और अन्यायों को चुपचाप सहने के बजाय उनके खिलाफ आवाज़ उठाती है। पति से मार खाने के बाद मायके जाने की सोच रही मेमसाहब को घर छोड़कर न जाने की सलाह सकुबाई देती है। सकुबाई की इस सलाह से प्रभावित होकर पूजा कपूर फैसला करती है कि अब उसे अपने अस्तित्व को खोकर जीने की जरूरत नहीं। वह अपने पति को चुनौती देती है।

इसी तरह, इसमें शहनाज़ के ज़रिए समाज और धर्म से जुड़ी पुरानी सोच को बिना सोचे-समझे मानने वाली औरतों को आत्मविश्वास और हिम्मत के साथ आगे बढ़ने का पैगाम भी मिलता है। शहनाज़, जो हमेशा परदे में रहकर अपने शौहर के साये में जीती थी, शौहर के गुजर जाने के बाद अपने परिवार को पालने के लिए क्रॉफर्ड मार्केट में प्लास्टिक की दुकान चलाने लगती है। समाज के तानों और बातों के बावजूद वह अपना हौसला कायम रखती है। धीरे-धीरे उसकी दुकान इतनी अच्छी चलने लगती है कि लोग देखकर दंग रह जाते हैं।

अतः इस नाटक के माध्यम से समूचे नारी वर्ग को यह संदेश है कि आत्मविश्वास और साहस के बल पर वे अपनी अस्मिता को पहचानें और सम्मान के साथ जीवन जीएँ। नाटक में केवल नारी की अस्मिता ही नहीं, बल्कि समाज में व्याप्त अन्य विसंगतियों का भी सजीव चित्रण किया गया है। लेखिका ने शिक्षित लोगों के बीच बढ़ती बेरोजगारी पर भी प्रकाश डाला है। सकुबाई के घर सामान बेचने आई एक लड़की की ओर इशारा करते हुए सकुबाई सोचती है कि इस लड़की के पढे-लिखे होने पर भी इसे लोगों के घर-घर जाकर समान बेचना पड़ता है। शिक्षित वर्ग के बीच बेरोजगारी की बढ़ती समस्या को यहाँ रेखांकित किया गया है।

नादिरा जी ने बाज़ारवाद के इस युग में मानवीय संवेदनाओं के ह्रास को भी उजागर किया है। आज रिश्ते बिकाऊ हो गये हैं और परिवारों में संवेदनाएँ दम तोड़ रही हैं। धन-संपत्ति के पीछे भागने वाले लोग आत्मकेंद्रित हो गये हैं। इसके विपरीत, गरीब लोग स्वार्थ से परे, अपने संबंधों को प्राथमिकता देते हैं। उनके लिए रक्त संबंधों का महत्त्व सबसे अधिक होता है। दरअसल सकुबाई का जीवन मानवीय संवेदनाओं का जीवंत उदाहरण है। वह दूसरों के घरों में बर्तन माँजकर अपने भाई की शिक्षा का प्रबंध करती है। किसी मर्द के साथ भाग चुकी अपनी बहन की मदद के लिए चुपचाप पैसा इकट्ठा करती है। अपने बूढ़े माता-पिता और बीमार पति की सेवा करती है। उसका यह भावनात्मक लगाव केवल अपने परिवार तक सीमित नहीं है, बल्कि अपनी मालकिन और पड़ोसियों के प्रति भी है। उसकी मानवीय संवेदनाएँ हमें नतमस्तक कर देती हैं।

'सकुबाई' में नादिरा जी ने न केवल समाज में व्याप्त विसंगतियों का पर्दाफाश किया है, बल्कि नारी शक्ति, आत्मनिर्भरता और मानवीय मूल्यों की पुनर्स्थापना का भी आह्वान किया है। यह नाटक समाज के हर वर्ग को आत्ममंथन करने पर मजबूर करता है। वर्तमान समाज में आर्थिक रूप से संपन्न लोग अपने वृद्ध माता-पिता को वृद्धाश्रम में छोड़ने से भी नहीं हिचकते। वे वही माँ-बाप होते हैं, जिन्होंने तमाम कष्ट सहकर अपने बच्चों को पढ़ाया-लिखाया और इन बच्चों को जीवन में सफलता की ऊँचाइयों तक पहुँचाया। लेकिन जब यही बच्चे समाज में प्रतिष्ठित पदों पर पहुँचते हैं, तो अपने माँ-बाप को न केवल भूल जाते हैं, बल्कि उनके प्रति कृतघ्न भी हो जाते हैं।

नादिरा बब्बर ने अपने नाटक सकुबाई में मातृ स्नेह का जो अप्रतिम स्वरूप प्रस्तुत किया है, वह दर्शकों को भीतर तक झकझोर देता है। नाटक में युवा कवयित्री, पुरस्कार प्राप्त करने के बाद, अपनी माँ सकुबाई का हाथ पकड़कर सभा में ले जाती है। "मैं अन्दर गई। वहाँ बहुत सारे बड़े-बड़े लोग थे। स्टेज के बीचोंबीच साइली बैठी हुई थी। उसके अगल-बगल भी लोग बैठे हुए थे।... साइली मेरे को देखकर खड़ी हो गई और ऊपर स्टेज पर बुलाने लगी....। और मेरा हाथ पकड़कर स्टेज पर खींचकर ले गई...। और बोली—''ये मेरी आई. ..। मेरी माँ...। जिसके लिए मैंने ये कविता लिखी...।''

सब जगह उसकी कविता छपती है। साइली मेरे को बोलती है—''आई बहुत मेहनत कर ली तूने ...। अब तेरा काम पर जाना बन्द।... अब तू घर बैठकर आराम करेगी।'' मैं बोली—''बेटा बुढ़ापे का शरीर है। काम नहीं करूँगी तो बीमार पड़ जाऊँगी।'' तो साइली कहती - ''ऐसा अविश्वास मत कर माँ...। अब अपने अच्छे दिन आ गये हैं। तू पढ़ना चाहती थी न...? पढ़। चलो एक तो फर्क पड़ा। मेरी आई ने पढ़ने के लिए मुझे थप्पड़ मारा था। आज मेरी लड़की मुझे पढ़ने के लिए कहती है।... फर्क तो पड़ा...।"[6]

इस संवाद के माध्यम से लेखिका माँ-बेटी के रिश्ते की गहराई और भावनात्मक ऊष्मा को बड़ी मार्मिकता से उकेरती हैं। सकुबाई अपने बचपन को याद करती है, जब स्कूल जाने से मना करने पर उसकी माँ ने गाल पर थप्पड़ मारा था। इस स्मृति में मातृत्व का वह कठोर रूप है, जो बच्चे के भविष्य को सँवारने के लिए कभी-कभी कठोर कदम उठाने से भी नहीं चूकता।

'सकुबाई' नाटक केवल व्यक्तिगत भावनाओं का दस्तावेज़ नहीं है, बल्कि इसमें सामाजिक सच्चाइयों का भी गहरा चित्रण है। इस नाटक के माध्यम से मानवीय संवेदनाओं, आर्थिक विषमताओं और सामाजिक शोषण पर गहनता से विचार किया गया है। लेखिका ने जहाँ एक ओर गरीब और श्रमिक वर्ग की समस्याओं, उनकी विषमताओं और शोषण का यथार्थ चित्रण किया है, वहीं संपन्न वर्ग की संकीर्ण स्वार्थपरता, विलासिता और नैतिक पतन को भी उजागर किया है।

सकुबाई के चरित्र के माध्यम से गरीबी में जी रहे लोगों के मानसिक संघर्ष, उनके मानवीय संबंधों की गर्मजोशी और नारी अस्मिता के स्वर को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया गया है। सकुबाई का संघर्ष यह दर्शाता है कि गरीबी के दबावों के बावजूद उसमें आत्मसम्मान और अपने परिवार के प्रति गहरी संवेदना बनी रहती है। 'सकुबाई' नाटक केवल

एक कहानी भर नहीं है, बल्कि यह समाज में बदलाव और बेहतर दुनिया की कामना का संदेश भी देता है। नादिरा जी का यह नाटक हमें प्रेरित करता है कि हम जीवन की वास्तविकताओं को पहचाने और उन्हें बदलने का प्रयास करें। यह उम्मीद जगाता है कि एक ऐसा समाज बने, जहाँ सामाजिक समानता हो, और आर्थिक रूप से संपन्न वर्ग अपने शोषणकारी रवैये को छोड़कर स्वयं में सुधार लाने को तत्पर हो। सकुबाई जैसे नाटक हमें सोचने पर मजबूर करते हैं कि मानवता और संवेदना से भरी दुनिया बनाने के लिए हमें अपने भीतर झाँकने और सुधार करने की जरूरत है।

वैसे देखा जाए तो सकुबाई दूसरों के घरों में काम करने वाली एक कामवाली बाई की कहानी है, जो दूसरों के घरों में बर्तन साफ करती है, झाड़ू पोंछा लगाती है, कपड़े धोती है मतलब कि हर तरह का काम करती है लेकिन वास्तव में यह उन सभी महिलाओं की कहानी है, जो विपरीत परिस्थितियों में भी हार नहीं मानतीं। यह नाटक उस अदम्य साहस और जीवटता का प्रतीक है, जो कठिन से कठिन समय में भी मुस्कान बनाए रखने का हौसला देता है। सकुबाई अपने जीवन की तमाम चुनौतियों के बावजूद उसकी सुंदरता को अपनी आँखों से ओझल नहीं होने देती।

इस नाटक की एक प्रमुख विशेषता उसकी भाषा है। मुंबई जैसे महानगर में प्रचलित बंबइया जुबान इस नाटक को एक अलग रंगत प्रदान करती है। सकुबाई एक ऐसा नाटक है, जो पूर्णतः मोनोलॉग शैली में प्रस्तुत किया गया है। इसमें केवल एक ही पात्र है, परंतु कहीं भी यह नाटक नीरसता का आभास नहीं होने देता। बल्कि, यह हास्य-व्यंग्य से परिपूर्ण किस्सों और रोचक प्रसंगों के माध्यम से दर्शकों को अंत तक बाँधे रखता है। नाटक की जान उसकी आकर्षक और जिंदगी से लबरेज भाषा है, जो दर्शकों के साथ एक गहरा संवाद कायम करती है। जीवन के कठिनतम दुखों को भी यह नाटक दिलचस्प और मार्मिक घटनाओं की मिठास में पिरोकर प्रस्तुत करता है। यहाँ अभिव्यक्ति की नफासत और शब्दों की शाइस्तगी इस नाटक को बेमिसाल बनाती है। नाटक का अंत भले ही फिल्मी अंदाज जैसा प्रतीत हो, किंतु यह अवश्य कहा जा सकता है कि इसका समापन उम्मीद की रोशनी के साथ होता है।

निम्न वर्ग की ज़िंदगी भले ही मुसीबतों और संघर्षों से भरी हो, पर उसमें भी एक रवानी, एक जज्बा मौजूद है। इस जीवन के पहलुओं में ऐसे तत्व शामिल हैं, जो उसे कभी-कभी कुछ पलों के लिए ही क्यों न हो लेकिन खुशी से सराबोर कर देते हैं। वह पूरी तरह से अपनी जिंदगी से टूट कर हताश नहीं हुआ है, बल्कि भविष्य की ओर नजर रखते हुए वह कुछ ऐसे पलों की कामना करता है, जो उसकी कांटों भरी राह में फूलों की तरह खिले रहें।

संदर्भ सूची

1. नादिरा ज़हीर बब्बर, सकुबाई, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली (संस्करण 2020), पृष्ठ 21
2. वही, पृष्ठ 19
3. वही, पृष्ठ 57
4. वही, पृष्ठ 55
5. वही, पृष्ठ 39
6. वही, पृष्ठ 62-63

एसोसिएट प्रोफेसर,
पीईएस महाविद्यालय, फर्मागुडी, फोंडा-गोवा

●

इंटरनेट से साभार

विश्वविद्यालयी रचनाशीलता का एक महत्त्वपूर्ण आयाम : कैम्पस रंगमंच

धर्मेन्द्र प्रताप सिंह

रंगमंच के विकास का एक महत्त्वपूर्ण आयाम विभिन्न महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में होने वाला रंगकर्म है। यह रंगकर्म मूलतः शौकिया प्रकार का होता है और इसका आयोजन भी वार्षिकोत्सव अथवा अन्य आयोजनों के अवसर पर ही किया जाता रहा है। संभवतः इसी कारण इसे गंभीर रंगकर्म अथवा रंगमंच के विकास में सहायक के तौर पर नहीं देखा गया। लेकिन यदि रंगमंच और फिल्म में काम करने वाले अधिकांश कलाकारों का जीवन देखें, तो सहज ज्ञात होता है कि अपने विद्यार्थी-काल में वे रंगकर्म से जरूर जुड़े हुए थे। इसलिए महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के रंगमंच वर्षों से रंग-प्रेमियों के लिए प्रेरणा के प्रारंभिक स्रोत रहे हैं।

दिल्ली के महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों की रंगमंचीय-गतिविधियाँ विशिष्ट हैं। दिल्ली देशभर की रंगमंचीय गतिविधियों का केंद्र है। यहाँ की रंग-सक्रियता व्यापक, विविधताओं से भारी एवं संभावनाओं से परिपूर्ण है। अतः इसका बहुत स्वाभाविक प्रभाव यहाँ के विभिन्न महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों की रंग-गतिविधियों पर पड़ा। इसलिए दिल्ली के महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों का रंगकर्म उत्साही युवाओं के प्रायोगिक रंगकर्म के रूप में विकसित हुआ। इसे सामान्य और सतही मानना इसका साधारणीकरण करना होगा। ऐसा करके हम मूलतः 'कैम्पस रंगमंच' की अवधारणा, उसकी ऊर्जा एवं गंभीरता पर प्रश्न-चिह्न लगाने के साथ-साथ दिल्ली के महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में होने वाले बहुविध, प्रयोगशील और सार्थक रंगकर्म के साथ भी अन्याय कर बैठेंगे। यद्यपि यहाँ अभी न तो रंगकर्म की शिक्षा देने की व्यवस्था का निर्माण हो सका है और न ही मुख्यधारा के रंगकर्म से इसे जोड़ा जा सका है। लेकिन पिछले कुछ दशकों में इन महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के रंगकर्म में आई नियमितता और प्रस्तुतियों की स्तरीयता ने इसे गंभीर रंगकर्म के रूप में पहचान दिलाने में मदद की है।

दिल्ली में विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों की संख्या लगभग सौ के ऊपर है। इनमें से अधिकांश के पास अपने रंग-संगठन हैं, जो नियमित-अनियमित तौर पर रंग-प्रस्तुतियाँ करते रहते हैं। दिल्ली, विश्वविद्यालय के भी लगभग सभी कॉलेजों के पास अपनी नाट्य-संस्थाएँ हैं, जो वर्ष में कम से कम दो प्रस्तुतियाँ जरूर करतीं हैं। इन महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में लगभग पूरे वर्ष रंग-गतिविधियाँ जारी रहती है। इनकी इस रंग-सक्रियता का एक महत्त्वपूर्ण कारण यहां प्रतिवर्ष आयोजित होने वाले नाट्य समारोह हैं। विभिन्न महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों की नाट्य संस्थाएँ इन नाट्य समारोहों में प्रतिभाग करतीं हैं। इससे उनमें प्रतिस्पर्धा के नये भाव का संचार और उत्साह तो जागृत होता ही है, साथ ही वे अभिनय, रंगसज्जा, रूप-सज्जा और वेश-भूषा आदि में अपेक्षाकृत सुधार का प्रयत्न भी करती हैं। इससे एक ओर जहाँ अच्छे नाटक लिखने की प्रेरणा मिलती है, तो दर्शक-निर्माण की दृष्टि से भी ऐसे आयोजन सहयोगी बनते हैं। अनेक बार अव्यावसायिक रंग-संगठनों के महाविद्यालयों में जाकर अपनी प्रस्तुतियाँ देने से भी छात्रों के बीच रंगमंच के प्रति एक सहज लगाव और आकर्षण पैदा होता है और आगे चलकर उन्हें रंगकर्म में सक्रिय होने की प्रेरणा भी मिलती है।

पिछले कुछ दशकों में रंगमंच के क्षेत्र में अनेक प्रतिभाएँ इन्हीं महाविद्यालयों से रंगमंच की प्रेरणा लेकर, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से प्रशिक्षण पाकर आज रंगमंच के क्षेत्र में अपनी पहचान बना चुकी हैं। महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में रंगकर्म का यह बेहतर माहौल स्तरीय एवं प्रयोगात्मक रंग-गतिविधियों के संवर्धन में सफल रहा है। आज अनेक महाविद्यालयों की नाट्य-संस्थाओं द्वारा नाट्य-प्रस्तुति हेतु बाहर से निर्देशक, संगीतकार अथवा अन्य रंगकर्मी प्रस्तुतियों में सहयोग हेतु बुलाए जाते हैं। दिल्ली विश्वद्यालय के मिरांडा हाउस में पिछले कुछ वर्षो से राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के सौजन्य से संक्षिप्त नाट्य कार्यशाला द्वारा नाट्य प्रस्तुति प्रशिक्षण का आयोजन होता रहा है। इस कार्यशाला के उपरांत सहयोगात्मक रूप से वहीं के छात्रों द्वारा नाट्य प्रस्तुति तैयार की जाती रही है। इसी प्रकार का कुछ रंग-कार्य पिछले लगभग एक दशक से हिंदू कॉलेज की नाट्य संस्था 'अभिरंग' भी करती आयी है। हंसराज कॉलेज, किरोड़ीमल कॉलेज, रामजस कॉलेज, दौलतराम कॉलेज, मैत्रेयी कॉलेज, सत्यवती कॉलेज और लेडी श्रीराम कॉलेज समेत अनेक महाविद्यालय ऐसे हैं, जिनके यहाँ राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से कोई प्राध्यापक जाकर, विद्यार्थियों को प्रशिक्षण देकर प्रस्तुतियाँ तैयार करवाता है। अन्य अव्यावसायिक रंग-संस्थाओं द्वारा भी कॉलेजों में जाकर वहाँ के छात्रों को रंगकर्म की आधारभूत जानकारी दी जाती रही है। अदिति कॉलेज ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सौजन्य से 'शिक्षा और रंगमंच' जैसे जरूरी एवं महत्त्वपूर्ण विषय पर महीने भर की कार्यशाला आयोजित कर शिक्षा में रंगकर्म को शामिल करने की जरूरतों एवं उसके सकारात्मक प्रभावों पर एक पुस्तक का प्रकाशन भी किया। ऐसे अनेक प्रयास आज दिल्ली विश्वविद्यालय के महाविद्यालयों में लगातार हो रहे हैं।

विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों में होने वाले इस रंगकर्म में अपार संभावनाएँ हैं। आवश्यकता है उसे हल्की गति एवं उचित दिशा

देते हुए सही रूप में ढालने की। इस हेतु अभी अनेक प्रयास किये जाने शेष हैं। सर्वप्रथम इन संस्थानों में रंगमंच के व्यावहारिक शिक्षण-प्रशिक्षण हेतु अलग से नाट्य विभाग की स्थापना की जाए। वर्तमान में विभिन्न साहित्यिक विभागों द्वारा नाटक-रंगमंच की पाठ्य-पुस्तकीय शिक्षा दी जा रही है। जबकि नाट्य-कला को इससे अलग करके शिक्षण-प्रशिक्षण हेतु इसका अलग विभाग स्थापित किया जाना समय की माँग है। इससे न केवल अधिक से अधिक लोग यहां रंगमच का प्रशिक्षण प्राप्त कर सकेंगे, बल्कि समर्पित रंगकर्मियों का निर्माण भी किया जा सकेगा। नाटकों को रंगमंचीय दृष्टिकोण की बजाय साहित्यिक दृष्टि से पढ़ाए जाने की पद्धति ने भी रंगमंच का बहुत नुकसान किया है। साहित्यिक विभागों की शिक्षण-परीक्षण पद्धति प्रायः बहुत अरंगमंचीय रही है। इसलिए आज भी रंगमंच मूलतः किताबी बना हुआ है। दूसरी कोशिश के रूप में नाटक-रंगमंच के व्यावहारिक प्रशिक्षण से संबंधित कुछ ऐसे नये पाठ्यक्रमों के निर्माण की दिशा में भी काम होना चाहिए, जिसका जोर एवं उद्देश्य रंगमंच एवं नाट्य-कला की व्यावहारिक शिक्षा पुस्तकों के द्वारा नहीं, बल्कि विविध अभिनय-पद्धतियों एवं युगीन नाटकों के प्रयोग द्वारा दिये जाने पर हो। इन नए पाठ्यक्रमों में रंगमंच के शामिल होने से छात्रों के बीच न केवल रंगमंच के प्रति स्वाभाविक आकर्षण बढ़ेगा, बल्कि रंग-गतिविधियों में स्वतः तेजी भी आएगी।

यद्यपि विविध दृश्य-श्रव्य माध्यमों के दबाव के कारण आठवें दशक के आसपास दिल्ली के महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों की रंग-गतिविधियों की निरंतरता में एक प्रकार का ठहराव देखने को मिला। लेकिन जल्द ही इन यांत्रिक माध्यमों की एकरूपता, यांत्रिकता और कुछ नया एवं अलग अनुभव न दे पाने के अभाव में पैदा हुई ऊब ने महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के छात्रों को अपने आकर्षण से मुक्त कर दिया। परिणामस्वरूप कालांतर में रंग-गतिविधियों ने और तेजी पकड़ी। आज दिल्ली के महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों का रंगकर्म शौकिया रूप में निरंतर गतिशील है। रंगमंच के विकास हेतु इसे बढ़ावा देना जरूरी है। इससे न केवल कला-प्रेमी रंगकर्मियों की संख्या बढ़ेगी, बल्कि सुरुचिपूर्ण दर्शकों का निर्माण भी होगा। व्यावसायिक रंगमंच की स्थापना की दिशा में भी यह एक महत्त्वपूर्ण कदम होगा। शिक्षा में रंगकर्म को शामिल करने के साथ रंगमंच के प्रशिक्षण हेतु नये पाठ्यक्रमों का निर्माण इस दिशा में एक सार्थक पहल होगी।

असिस्टेंट प्रोफेसर
हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

●

इंटरनेट से साभार

भोजपुरी लोकजीवन का सांस्कृतिक पक्ष और भिखारी ठाकुर

मुन्ना कुमार पाण्डेय

भिखारी ठाकुर का साहित्य भोजपुरी लोकजीवन के विविध पक्षों का साहित्य है और उनका रंगकर्म भोजपुरी लोकजीवन की सांस्कृतिक पहचान। उनके रचनाकर्म में एक पूरी सामाजिक परंपरा और इतिहास के दर्शन होते हैं। किन्तु संस्कृति की बहसों का अभिजन पक्ष इन्हें परे ही रखता आया है। इसकी वजह स्पष्ट है क्योंकि 'इतिहास निरूपण में अभिजात्यवर्गीय सोच के इतिहास ने सदा ही संभ्रांतवर्ग की पक्षधरता निभायी है। वह गाँव के बजाय सत्ता केंद्रों की विषयवस्तु रहा है।'[1] यद्यपि इतिहास और साहित्य के भीतर ये विमर्शों के उभार ने अब इतिहास और साहित्य की नयी व्याख्या लिखनी शुरू की हैं। अब तक जो परे था उसे केंद्र में जगह मिल रही है। गोएथे की सुविख्यात कृति 'फाउस्ट' में कथा नायक फाउस्ट का कथन है–

'कोरे शब्द नहीं ला सकते परिवर्तन...
व्यर्थ है भाषण नहीं है जब तक उसमें अंतर्मन
श्रोता के मन में पैठना चाहिए तुम्हारा कथन,
अनुभूत होना चाहिए, वह उल्लास
जो है तुम्हारे भीतर, तुम्हारे पास।'[2]

भिखारी ठाकुर इस तथ्य से परिचित थे कि नाच अथवा सर्जना के भीतर जब तक जन की आवाज, जन की वेदना, जन का अंतर्मन नहीं है तब तक परिवर्तन की बात बेमानी है। इसलिए उन्होंने अपने समाज और संस्कृति के भीतर के सवालों को अपने अर्थपूर्ण शब्द दिए। इनका रचा साहित्य आज भोजपुरी जनजीवन और संस्कृति के प्राथमिक दस्तावेज ही नहीं बल्कि भोजपुरी लोकजीवन और संस्कृति का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। "भिखारी ठाकुर के रचना-संसार का लगभग पिचहत्तर प्रतिशत उनकी काव्य-रचनाएँ हैं, जिसमें गीत, भजन-कीर्त्तन, कविताएँ हैं। उनकी काव्य-कृतियों में काव्य के सभी रस विद्यमान हैं; किन्तु, उनका मन जितना विप्रलंभ शृंगार और भक्ति रस में रमा है, उतना अन्य रसों में नहीं। उनके गीत लोकसंगीत के ताल, लय, और आरोह-अवरोह में बंधे होने के कारण गेय और प्रभावी हैं। उन्होंने लोकसंगीत की प्रचलित अधिसंख्य लय-विधाओं में गीतों का विन्यास किया है, जिसमें कजरी, होली, चैता, चौबोला, बारहमासा, सोहर, विवाह-गीत, जंतसार, सोरठी, आल्हा, पचरा, भजन एवं कीर्त्तन आदि प्रमुख हैं।''[3] संगीत की कुछ शिक्षा उन्हें 'पूरबी' के महेंद्र मिश्र से भी मिली थी। महेंद्र मिश्र शास्त्रीय और लोकसंगीत में दक्ष थे, जैसा कि माना जाता है, उन्होंने भिखारी ठाकुर को भी कुछ सिखाया-समझाया था। भगवती प्रसाद द्विवेदी सरीखे विद्वान ऐसा बताते भी हैं लेकिन जिस तरह भोजपुरी साहित्य के इतिहासकारों की कलम की स्याही महेंद्र मिश्र के साहित्यिक अवदान तक आते-आते सूखने लगती है वैसे ही नये विमर्शों में इस तथ्य को झुठलाये जाने की कोशिश हो रही है। बहरहाल, भिखारी ठाकुर ने लोकसंस्कृति के संस्कार गीतों को अपने नाटकों में समाहित करके इन गीतों को एक नया जीवन और व्यापकता प्रदान कर दी।

भोजपुरी लोकजीवन अभाव में भाव की संस्कृति का उद्-गाता है। कहीं महेंद्र मिश्र की 'पूरबी' है तो कहीं भिखारी ठाकुर की टांसदार आवाज हवाओं में हैं। लोकसंस्कृति के इन गीतों का संसार विस्तृत है, जो मौखिक परंपरा में संस्कार गीतों यथा-जंतसार, पुत्र-जन्म (सोहर), द्विरागमन, देवस्थापन, अन्नप्राशन आदि ऋतु संबंधी बारहमासा, चैता, छठ, गोधन, पीड़िया, फसलों के गीत, सोरठे, सवैये आदि के रूप में लोक जीवन में व्याप्त हैं। भिखारी ठाकुर ने इन सभी से अपने गीत लिये। यह बात भी समझने की है कि भिखारी ठाकुर के लिए मानस एक आदर्श ग्रन्थ था। रामकथा का आदर्श भी उनको बहुत प्रभावित करता रहा। ऐसा होना स्वाभाविक ही था, समस्त भारतीय लोक समाज की बात न भी करें तो 'पूरब' में मानस की अपार लोकप्रियता है। यहाँ कई ग्राम्य गीतों में 'रामा हो रामा' की टेक लगती है। भिखारी ठाकुर ने अपने नाटक 'भाई-बिरोध' नाटक का प्रारंभ इसी लय से किया है।

"सिरि गनेस महादेव भवानी, रामा हो रामा।
रामा, सीस चरन में नवावत बानी, रामा हो रामा।
रामा, रहे भवन एक तीन गो भाई, रामा हो रामा।
रामा, उपदर, उपकारी ओ उजागर, रामा हो रामा।
रामा, सनमत रहत सदा तिनका घर, रामा हो रामा।''[4]

उपकारी बहू जंतसारी लय में अपने गीत द्वारा आदर्श जीवन की कामना करती है। यद्यपि जीवन में मशीनों के आगमन ने इन गीतों को लुप्त करना शुरू कर दिया है। लेकिन भिखारी ठाकुर के समय यह स्थिति नहीं थी। इसलिए उन्होंने लोक जीवन के सुख-दुःख के भागी इन गीतों को अपने नाटकों में प्रश्रय दिया। जांत पिसाई के समय औरतें इन गीतों को गुनगुनाती हैं।

"बेरि बेरि कहीला गोरी, गहुमा[5] *दे द ए गोतिन मोरी;*
अपने पीसब ना केहू से पिसवाइब ए सजनी।
जाँतवा चलत बा हर-हर, गिरता पिसानवाँ[6] *भर-भर;*
गाइ-गाइ गितिया सबेरे ओरवाइब[7] *ए सजनी।*
साफ़ से चुहानी जाइब, रचि-रचि के रोटिया पकाइब;
देवरू से सामीजी[8] *के बोलवाइब ए सजनी।''*[9]

पूरबी के जन्मदाता सारण के लोककवि महेंद्र मिश्र हैं। उनकी 'पूरबी' भोजपुरी की सांगीतिक धरोहर और पहचान है। भिखारी ठाकुर

ने थोड़ी संगत महेंद्र मिश्र की भी की थी। दोनों समकालीन ही थे। महेंद्र मिश्र की कविताई, गायकी और पूरबी खासी प्रसिद्धि पा चुकी थी। लोककंठों में उतर चुकी थी। इसलिए जब भिखारी ठाकुर के 'बिदेसिया' की नायिका अपने तमाम प्रयासों से भी अपने प्रिय को नहीं रोक पाती, तो अपने हृदय की पीड़ा को 'पूरबी' लय कहती है—

"करि के गवनवाँ भवनवाँ में छोडिकर,
अपने परइल पुरुबवा[10] बलमुआँ।
अँखिया से दिन भर गिरे लोर[11] ढर ढर,
बटिया जोहत दिन बीतेला बलमुआँ।"[12]

लोकजीवन में 'बारहमासा' गीत स्त्रियों के कंठों में सदा से ही गुंजायमान हैं। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में अद्दहमाण के 'संदेश रासक' में और मध्यकाल में जायसी के 'पद्मावत' में इसका वर्णन मिलता है। भिखारी ठाकुर अपने नायिका से इसका वर्णन करवाते हैं, लोकसंस्कृति में बारहमासा का ऐसा हृदयस्पर्शी वर्णन या तो जायसी के 'नागमती वियोग खंड' में ही है अथवा भोजपुरी के भिखारी ठाकुर में।

"आवेला आषाढ़ मास, लागेला अधिक आस,
बरखा में पिया घरे रहितन बटोहिया।
पिया अइतन बुनियाँ[13] में, राखि लिहतन दुनियाँ में,
अखड़ेला[14] अधिका सावनवाँ बटोहिया।।
...
कोइलि[15] के मीठी बोली, लागेला करेजा गोली,
पिय बिनु भावे ना चइतवा बटोहिया।।
चढ़ी बइसाख जब, लगन पहुँची तब,
जेठवा दबाई हमें हेठवा बटोहिया।

भोजपुर अंचल की लोकसंस्कृति में 'लोरिकायन', 'शोभानायका बंजारा' आदि की कथा भी गायी जाती है. 'लोरिकायन' की लय का एक गीत 'बिदेसिया' में द्रष्टव्य है—

"अइले कलकातावा त खतवा भेजइते ताबर हो तोर।
रोपेया भेजइते मनीआडर से, गँइयाँ में होइत सोर।।"[16]

बात केवल लोकगीतों के समायोजन की ही नहीं है, बल्कि भिखारी ठाकुर के नाटकों के सन्दर्भ में देखें, तो जो चरित्र उनके यहाँ मिलते हैं, उनके अध्ययन से भोजपुरी लोकजीवन की सामाजिक और उनके आपसी संवादों तथ क्रिया-व्यापारों से उनके सांस्कृतिक जीवन की झलकियाँ मिल जाती हैं। ऐसा बहुत कम होता है कि रचनाकार जिस परिवेश में रहता है, उसका वर्णन वह संपूर्णता में कर पाये। भिखारी ठाकुर ने अपनी रचनाओं में अपने परिवेश को उसकी सम्पूर्णता में शामिल किया है। यह कहा जाए कि भिखारी ठाकुर की रचना-दृष्टि भोजपुरी लोकजीवन और संस्कृति का कोना-कोना झाँक आयी है, तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। यह विरल है कि चरित्र अपनी वर्गीय स्थिति भी बिना कहे बता दे। भिखारी ठाकुर के चरित्रों के नाम प्रतीकात्मक हैं। उदाहरण के रूप में, 'भाई-बिरोध' का 'उपदर', 'उजागर', 'उपदर बहू', 'उपकारी' और 'उपकारी बहू', 'बिधवा-बिलाप' में 'उदबास' और 'उदबास बहू', 'कलियुग प्रेम' में 'दुखहारिन', 'रंडी', 'गंगा-स्नान' में 'मलेछू', 'अटपट', 'मलेछू बहू', 'अटपट बहू', 'बटाई बहू', 'पुत्र-बध' में 'चपाट राम', 'चेतराम', 'मिलनुआँ', 'कुटनी बुढ़िया', गबरघिचोर में 'गलीज बहू', 'गड़बड़ी', 'घिचोर', 'गलीज बहू', 'ननद-भउजाई' 'अखजो' 'चेंथरू' कुछ ऐसे ही चरित्र हैं। भिखारी ठाकुर के इन चरित्रों के नामों के अध्ययन से इस समाज के वर्गीय-चरित्र को समझा जा सकता है। ऐसे नाम भोजपुरी समाज में अधिकांशतः हाशिये के वर्गों में ही पाए जाते हैं।

किसी समाज के लोकसाहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन हमें उस समाज के अन्तः और बाह्य स्थितियों के भीतर निर्मित्त होते जीवन दशाओं से परिचित कराता है। डॉ. श्रीधर मिश्र ने 'भोजपुरी लोक-साहित्य के सांस्कृतिक अध्ययन' में सांस्कृतिक अध्ययन के कुछ अंगों की ओर किया है। इसमें वह किसी समाज के प्राकृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक जीवन-परिस्थितियों आदि के अध्ययन से उस समाज के सांस्कृतिक जीवन की पड़ताल संभव बताते हैं। भिखारी ठाकुर का समूचा रंगकर्म भोजपुर अंचल के इस सांस्कृतिक जीवन का दस्तावेजीकरण है। केवल बिदेसिया से भिखारी ठाकुर की सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि का आकलन मुश्किल है।

भिखारी ठाकुर रचनावली के संपादक नगेन्द्र प्रसाद सिंह ने अपने एक लेख में लिखा है "भिखारी ठाकुर बंगाल के पुनर्जागरण आंदोलन से प्रभावित होकर जब अपने गाँव कुतुबपुर(सारण) लौटे तो उन्होंने अपने समाज और उसकी विविध सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक समस्याओं को बड़ी सूक्ष्मता तथा संवेदनशीलता से देखा। पहले से चली आ रही किसी आन्दोलन की धारा में सम्मिलित हो विलीन हो जाने के बदले उन्होंने अपनी शैक्षिक क्षमता, जातीय स्थिति और अंतर्निहित वैयक्तिक विशेषताओं पर चिंतन किया तथा सकारात्मक ढ़ंग से पुनर्जागरण को लेकर लोकनाटक, लोकभजन, गीत, कविता और तमासा के माध्यम से भोजपुरिया समाज में पहुँचाने का निर्णय लिया।"[17] यही कारण हैं कि उनकी दृष्टि एक ओर समाज से आर्थिक अपवाय, पलायन, स्त्रियों की आँखों के आँसू पर थी, तो दूसरी ओर यह धार्मिक पाखण्ड, जातिगत विद्वेष, सामाजिक विचलन, वृद्धजनों की स्थिति, कुरीतियों आदि पर भी केन्द्रित थी। महान रचनाकार की रचना कालांतरण कर जाती है, उसकी लेखनी अपने समय से सैकड़ों वर्ष आगे तक यात्रा करती है और प्रत्येक समय में समीचीन रहती है।

आज वैश्वीकरण और 'ग्लोबल कल्चर' के समय में परिवार टूट रहे हैं, मूल्य ध्वस्त हो रहे हैं, महानगरीय संस्कृति में निर्मित होते 'न्यूक्लियर परिवार' में 'माँ-पिता' कर्त्तव्य और भावना का प्रश्न नहीं रह गये हैं। इस बात को भिखारी ठाकुर ने दशकों पहले समझ लिया था। उनकी भारतीय सभ्यता और संस्कृति में बड़ी आस्था थी। इसलिए उन्होंने 'बुढ़शाला के बेयान' में समाज की उस पक्ष की ओर इशारा किया है, जो आज हमारे सामने मुँह बाए खड़ा है। भिखारी ठाकुर ने देखा कि 'जियला पर कुती-कुत्ता/कहेला पतोह पूता'। इसलिए उन्होंने वार्तिक के मुँह से कहलवाया "अब देखल जाय कि गाय वास्ते गौशाला खुल गइल। गरीब वास्ते धर्मशाला खुल गइल। गँवार वास्ते पाठशाला खुल गइल। बड़ा अच्छा भइल। अब बुढ़ खातिर बुढ़शाला खुल जाइत, बहुत अच्छा रहल हा; काहेकि बूढ़ के बड़ा तकलीफ बीतत बा...बूढ़ के खइला के फिकिर ना रहे।"[18] लोककवि भिखारी ठाकुर यह उपाय देते हैं कि—

"हिन्दू मुसलमान, हमरा कहला पर दीं कान
नाहीं त होत बा बुढ़ के अपमान

...

कहे 'भिखारी' अबहीं तूं बुढ़शाला द बनवाई
ना ट होत बाटे बुढ़ के अपमान।।''[19]

वार्तिक के माध्यम से वह समाज का आह्वान करते हैं कि प्रत्येक गाँव में एक-एक बूढ़शाला की स्थापना हो और उसके संचालन का भार वह गाँव सामूहिक रूप से स्वीकार करें।[20] आज के परिप्रेक्ष्य में उपेक्षित और अकेले पड़े वृद्धों के लिए कई सामाजिक संस्थाओं ने 'ओल्ड एज होम' सरीखे सार्थक प्रयोग शुरू किये हैं। भिखारी ठाकुर इस रचना से चमत्कृत करते हैं कि उनकी दृष्टि समय से कितने आगे की कहानी देख रही थी। संस्कृति कोई ईश्वर प्रदत्त या विधिसम्मत व्यवस्था नहीं होती। संस्कृति एक विशेष प्राकृतिक बनावट की भूमि पर रहने वाले व्यक्तियों के आंतरिक एवं बाह्य जीवन के क्रिया-कलाप को कहते हैं। दूसरे शब्दों में कहें, तो संस्कृति रहन-सहन की उन स्थिर मान्यताओं को कहते हैं, जो किसी विधान के माध्यम से नहीं वरन् कालगत धरातल पर स्वयं बनाती है। भोजपुरी संस्कृति के अध्ययन में भी हमें उस पूरे भूगोल के भीतर के मानवीय क्रियाओं के फलस्वरूप निर्मित्त हुई संस्कृति का अध्ययन करना आवश्यक है। भोजपुरी कृषि प्रधान क्षेत्र है। किंतु, बाढ़ और सूखे की विभीषिका ही सर्वदा मंडराती रहती है। कदाचित् इन्हीं कारणों यहाँ पलायन होता रहा है और एक अलग किस्म की श्रमिक संस्कृति का यहाँ पायी जाती है। वहीं भोजपुरी लोकजीवन में सामाजिक सुधार के राष्ट्रीय स्तर पर जो आंदोलन देश में हुए, उनका बहुत प्रभाव भिखारी ठाकुर के समय नहीं पडा। अशिक्षा इस समाज की एक बड़ी समस्या थी। भोजपुरी लोकजीवन में ही नहीं बल्कि पूरे भारतीय संस्कृति में लड़की को हमेशा से 'आन घर की अमानत' माना जाता है। इसलिए उसकी उपमा गाय से दी जाती है। लेकिन इसी समाज में गरीबी की मार से त्रस्त जनजीवन बेमेल विवाह के गिरफ्त में भी फँसता है। अपनी लोकसंस्कृति के इस कुरीति की ओर भिखारी ठाकुर ने ध्यान खींचा है—

"अपने मन से भइले भूपा। बेटी काटि के डलले कूपा।
बूढ़ा बर से सादी कइले। गाँव-घर का चित से गइले।।
...
तोहरा आँख में परल धूरे। कइले बुढ़वा बर मंजूर।।
कहे 'भिखारी' लालच कइले। लोक-बेद के इज्जत खइले।।''[21]

जो सिद्धांतकार धर्म को छद्म चेतना मानते हैं, वे भी यह स्वीकार करते हैं कि संस्कृति में धर्म की पैठ इतनी गहरी होती है कि वह मानवीय संवेदना को संचालित करने वाली एक शक्ति बन जाती है। यही वजह है कि के. दामोदरन भक्ति आन्दोलन संबंधी अपनी व्याख्या में धर्म की प्रगतिशील भूमिका का रेखांकन करते हैं कि "धर्म पीड़ित आत्मा की कराह है। हृदयहीन जगत का हृदय है। यह आत्महीन परिस्थितियों की आत्मा है।''[22] भिखारी ठाकुर को अपने लोकजीवन के अभावों का भान था। वह जानते थे कि भक्ति का आलंबन उन लोगों के जख्मों पर मरहम का काम करता था। शायद यह एक वजह रही होगी कि भोजपुरी की अशिक्षित धर्मभीरु जनता में 'अष्टयाम' कीर्त्तन[23] की परंपरा चली है। वैसे तो पूर्व उत्तर भारत में वैष्णव परंपरा का प्रभाव रहा है लेकिन भिखारी ठाकुर के राम और कृष्ण संबंधी भजनों और कीर्त्तनों की बहुतायतता देखते हुए ऐसा माना जा सकता है कि उनपर वैष्णव परंपरा का भी प्रभाव था। उन्होंने राम और कृष्ण के अलावा शिव पर भी दर्जनों अष्टयाम भजन लिखे हैं। इधर की ग्रामीण जनता जब किसी शुभ कार्य अथवा यज्ञादि का आयोजन करती है, तब अपने ईश्वर को याद करती है। उदहारणतया—

"राम कहे राम कहे राम कहे रामा।
एहि तोहरा बाटे मन! निसि दिन कामा।।

अथवा

"राम-राम भोर कह, राम-राम साम।
राम-राम बारह बजे, तीन गो मोकाम।।''[24]

"भिखारी ठाकुर की पारखी नजरों ने तत्कालीन ग्रामीण जनजीवन के मनोभावों और सुसुप्तता को अत्यंत निकटता से निरख लिया था और उनके मन में सामाजिक चेतना जगाने की सुगबुगाहट होने लगी थी। धर्म-आध्यात्म की चासनी में लपेटकर उन्होंने स्वस्थ मनोरंजन की ऐसी जादुई पुड़िया दर्शकों को थमाई कि वे सभी 'वाह-वाह' कर उठे और उनका रोम-रोम पुलकित, रोमांचित व झंकृत हो उठा।''[25] उन्होंने लोकजीवन की संस्कृति की कथा कहने में लोक प्रचलित गीतों और धर्म का सहारा लेकर वे अधिक प्रभावी होकर भोजपुरी जनजीवन के सांस्कृतिक ध्वज वाहक बन गये। दरअसल लोकसंस्कृति में धर्म आधारित गीत और ईश्वरीय सत्ता में भरोसा लोकविश्वासों के अंतर्गत आती है, पर "लोकविश्वासों से आदमी का आत्मबल बढ़ता है, क्योंकि यदि किसी वास्तु या प्रतीक से माँगल्य की आशा हुई तो व्यक्ति को सहज उल्लास का बोध होता है और वह सर्वतोभावेन निश्चिंतता का अनुभव करता है। और यदि अमंगल की आशंका हुई तो वह हर प्रकार के अनिष्ट के लिए भी अपने को मनसा तैयार-सा कर लेता है। इस प्रकार इससे मनुष्य की मानसिक चंचलता का शमन हो जाता है।''[26] भिखारी ठाकुर के धर्म और ईश्वरीय सत्ता के प्रति अधिक झुकाव को देखकर श्री विद्याभूषण लिखते हैं—"देवी-देवताओं और अवतारी लीलाओं के प्रति उनके आकर्षण में मध्यकालीन धार्मिक विश्वास ही उत्प्रेरक थे कि संत कवियों की तरह भक्ति या साधनात्मक ज्ञान के प्रति एकांत समर्पण सदाचार के प्रति परंपरानुमोदित धार्मिक मान्यताएँ ही उनकी ईशपरक रचनाओं में व्यक्त हुई हैं।''[27]

साहित्य एवं संस्कृति का संबंध सनातन, अटूट एवं सुव्यवस्थित है। साहित्य के निर्माण में युगीन संस्कृति मूलभूत पदार्थ का स्थान ग्रहण करती है एवं संस्कृति के निर्माण में साहित्य प्रेरक, संचालक एवं संरक्षक की भूमिका संपन्न करता है। हम जानते हैं कि साहित्य के निर्माण में साहित्यकार युगीन संस्कृति से मूलभूत आधार सामग्री प्राप्त करता है और समाज की आशाओं, आकांक्षाओं, आवश्यकताओं, जीवन-पद्धतियों, सामाजिक क्रियाव्यापारों, मूल्यों, विचारों, भावों, आदतों आदि को अपनी सूक्ष्म दृष्टि और संवेदनशील समझ से ग्रहण कर उसे सार्थक एवं आकर्षक शब्द-विधान से कलात्मक अभिव्यक्ति देता है। इस प्रक्रिया में सर्जक/कलाकार/रचनाकार का जीवन दर्शन युगानुरूप पाठकों एवं रसिकों के भाव-जगत को प्रभावित करता हुआ एक ओर संस्कृति के विकास में योगदान प्रदान करता है, तो दूसरी ओर उसे शब्दबद्ध करता हुआ अपनी समकालीन संस्कृति को अक्षुण्ण बना देता है। यहीं पर उसके साहित्य और संस्कृति का अन्योन्याश्रय संबंध स्थापित होता है। भिखारी ठाकुर ऐसे ही सर्जक थे, जिनकी लेखनी

और रंगकर्म की दुनिया में भोजपुरी लोकजीवन और संस्कृति आरोपित नहीं दीखते बल्कि वह उसके हिस्से के तौर पर नजर आते हैं, सच कहें तो तो उस लोकसंस्कृति और लोकजीवन का आइना।

संदर्भ

1. संपादकीय, लोकरंग-1, सं. सुभाष चंद्र कुशवाहा, सहयात्रा प्रकाशन प्रा.लि., दिलशाद गार्डन, दिल्ली-95, पहला सं. 2009, पृ. 1.
2. फाउस्ट, गोएथे, अनुवाद-अरविन्द कुमार, भारतीय ज्ञानपीठ, लोधी रोड, नयी दिल्ली-3, प्र.सं. 2002, पृ. 45.
3. संपादकीय, भिखारी ठाकुर रचनावली, पृ. 9.
4. भिखारी ठाकुर रचनावली, पृ.60.
5. गेहूँ।
6. पीसने ने क्रम में जांतचक्की के किनारे गिरने वाला आटा।
7. खत्म करुँगी।
8. स्वामी अर्थात् पति।
9. भिखारी ठाकुर रचनावली, पृ. 61।
10. पुरुब का सन्दर्भ कलकत्ते से है।
11. आँसू।
12. वही, पृ. 37।
13. हल्की बारिश।
14. अखरता है।
15. कोयल
16. भिखारी ठाकुर रचनावली, पृ. 40।
17. मड़ई (वार्षिक पत्रिका)2005, सं. कालीचरण यादव, पृ. 213।
18. भिखारी ठाकुर रचनावली, पृ. 259। (हिन्दी अनुवाद-अब देखा जाए कि गाय के लिए गौशालाएँ खुल गयी हैं। गरीबों के लिए धर्मशालाएँ खुल गयी हैं।गंवारों के लिए पाठशाला खुल गयी है। इसलिए अब बूढ़ों के लिए बुढ़शाला खुल जाना चाहिए, ये अच्छा रहेगा। उनके खाने-रहने की दिकत नहीं रहेगी, क्योंकि बूढों की जिंदगी बहुत तकलीफ में बीत रही है।
19. वही, पृ. 262।
20. वही, पृ.260-261।
21. भिखारी ठाकुर रचनावली, पृ.88-89।
22. दामोदरन, के., भारतीय चिंतन परंपरा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि., नई दिल्ली-55। चौथा सं. 2009, पृ. 327।
23. भोजपुर अंचल में अष्टयाम आठों याम/पहर गाया जाने वाला कीर्त्तन है, जिसमें देवताओं की मूर्ति या तस्वीर के आगे झुंड में ढ़ोलक, झाल, मंजीरा, हारमोनियम के साथ समूह गान करते हुए,राम अथवा कृष्ण का नाम लगातार बिना रुके लिया जाता है। इस अष्टयाम की समाप्ति पर यज्ञ और सामूहिक भोज का आयोजन होता है।
24. भिखारी ठाकुर रचनावली, पृ. 204।
25. द्विवेदी, भगवती प्रसाद, भिखारी ठाकुर : भोजपुरी के भारतेंदु, पृ. 48।
26. ओझा, डॉ.सत्यदेव, भोजपुरी कहावतें एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली-02, प्र.सं. 2006, पृ. 290
27. बिदेसिया, अंक-2, पृ.6

हिन्दी-विभाग, सत्यवती कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय

●

इंटरनेट से साभार

हिन्दी भाषा का बदलता स्वरूप

ज्योति सिंघल

शोध-सारांश—हिन्दी भाषा का स्वरूप समय के साथ बदलता रहता है। ऐतिहासिक विकास से लेकर वर्तमान तकनीकी प्रभाव तक हिन्दी ने अनेक परिवर्तन देखे हैं। आज हिन्दी एक आधुनिक और समृद्ध भाषा बन चुकी है, जो डिजिटल युग में और भी प्रासंगिक होती जा रही है। इसके साथ ही विभिन्न संस्कृतियों का प्रभाव इसे और समृद्ध बना रहा है। भविष्य में भी हिन्दी अपनी पहचान बनाए रखेगी और नए रूपों में विकसित होगी। क्योंकि भाषा कभी एक सी नहीं रहती उसका संबंध मानव जीवन से है और मानव जीवन का स्वरूप निरंतर बदलता रहता है। इस तथ्य से सभी अवगत हैं कि वर्तमान हिन्दी का उद्‌भव संस्कृत भाषा से हुआ माना जाता है और कालानुसार प्राकृत अपभ्रंश के रूप में ढलती हुई यह आगे बढी। संभवतः आने वाले समय में भी इसका स्वरूप बदलता रहेगा। भाषा को नदी का बहता नीर कहा गया है। हिन्दी की विकास यात्रा वास्तव में इसका जीवन है। यदि समय के साथ यह अपना स्वरूप नहीं बदलती तो बहुत पहले संसार की मृत भाषाओं की सूची में शामिल हो जाती। भारत में हिन्दी भाषा के स्वरूप में आए हुए बदलाव पर दृष्टि डालें तो सबसे पहला कारण यहाँ के शासन तंत्र को माना जाता है। अनेक वर्षों तक मुगलों आदि का शासन भारत में रहा। फलस्वरूप ईरान, इराक, अफगानिस्तान, अरब देशों की भाषाओं ने हिन्दी का स्वरूप विकसित किया। तत्पश्चात अंग्रेजी हुकूमत के काल में अंग्रेजी भाषा का गहरा प्रभाव हिन्दी भाषियों पर पड़ा।

बीज शब्द/संकेत शब्द

हिन्दी भाषा, परिवर्तन, तकनीकी प्रभाव, सांस्कृतिक प्रभाव, वैश्वीकरण, आधुनिकता, विकास यात्रा, डिजिटल युग, साहित्य

प्रस्तावना

हिन्दी भाषा भारतीय उप महाद्वीप की एक प्रमुख भाषा, सदियों से अपने स्वरूप में परिवर्तन करती आ रही है। यह परिवर्तन समय, समाज और तकनीकी विकास के साथ साथ संस्कृति और परंपराओं के प्रभाव से भी प्रभावित होता है। साथ ही यह भारतीय समाज की पहचान संस्कृति और इतिहास का प्रतीक भी है। आधुनिक युग में वैश्वीकरण, इंटरनेट और डिजिटल मीडिया के प्रभाव से हिन्दी भाषा का स्वरूप और भी बदल रहा है। हिन्दी केवल वाचिक परंपरा में ही जीवित थी पर मुद्रण काल के फलस्वरूप उसका प्रकाशित स्वरूप सामने आया, जिससे उसका स्वरूप बदलने लगा। बहुभाषिकता बहुल भारत देश में सोशल मीडिया के मंच पर आकर उसमें अनेक विविधताओं का प्रवेश हुआ है। अनेक क्षेत्रीय भाषाओं के प्रभाव को लिए हुए हिन्दी यहाँ उतरी है। इस लेख में हम हिन्दी भाषा के बदलते स्वरूप उसके ऐतिहासिक विकास, वर्तमान स्थिति, सामाजिक और तकनीकी प्रभावों और भविष्य की संभावनाओं पर विस्तृत चर्चा करेंगे।

संपूर्ण लेख

हिन्दी भाषा का विकास एक लंबी यात्रा का परिणाम है। इसका आरंभ प्राकृत भाषाओं से हुआ, जो कि प्राचीन भारत की भाषाएँ थी। समय के साथ साथ हिन्दी ने विभिन्न संस्कृतियों और भाषाओं से प्रभावित होकर आपने स्वरूप को विकसित किया। अतः एक लंबे समय तक चले संघर्ष के फलस्वरूप सन् 1947 में अंग्रेजी शासन से मुक्ति मिली। यह सत्य है कि सत्ताधारी की जीवन शैली और भाषा को देश की जनता इसलिए अपनाती है कि वह वर्चस्व वाले लोगों की भाषा है इसलिए उम्दा है।

प्राचीन भारत में संस्कृत का प्रमुख स्थान था। संस्कृत से विकसित होने वाली प्राकृत भाषाएँ जैसे कि अपभ्रंश ने हिन्दी के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस काल मे हिन्दी के प्रारंभिक रूपों का प्रयोग मुख्य रूप से धार्मिक ग्रंथों और साहित्य कृतियों में होता था।

मध्यकालीन काल में हिन्दी भाषा ने एक नयी दिशा में कदम रखा। इस समय हिन्दी साहित्य में भक्ति आंदोलन का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। कबीर, तुलसीदास और मीराबाई जैसे संतों ने हिन्दी में अपनी रचनाएँ की, जिससे हिन्दी का साहित्यिक स्वरूप समृद्ध हुआ।

आधुनिक हिन्दी उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और 20वीं शताब्दी के आरंभ में हिन्दी ने एक साहित्यिक पहचान बनाई। इस समय हिन्दी साहित्य मे निबंध, उपन्यास और कहानी जैसे नये रूप सामने आये। हिन्दी भाषा के स्वरूप को बदलने में अनेक कारणों की भूमिका रही है। जैसे उसने नये शब्दों को सहेजा, पुराने शब्दों को मांझा-धोया। फिल्मी दुनिया में, इंटरनेट और कंप्यूटर की दुनिया में हिन्दी ने जब से प्रवेश किया उसका विस्तार हुआ है। वह खुली है और आम जनता की अभिव्यक्ति का माध्यम बनी है।

आज हिन्दी का वर्तमान स्वरूप बहुत विविध और समृद्ध हो चुका है। यह न केवल भारत बल्कि विश्व भर में हिन्दी भाषियों के बीच एक महत्त्वपूर्ण संचार का माध्यम बन चुकी है। मशीनीकरण तथा निरंतर अत्याधुनिक तकनीकों का उपयोग भी हिन्दी भाषा के स्वरूप को बदलने में सहायक है, वस्तुतः समय के साथ साथ हम सब की भाषा धीरे धीरे बदल रही है। क्योंकि हमारा परिवेश भी बदल रहा है। विशेषतः एक बड़ा बदलाव उपनगरों और महानगरों में देखा जा सकता है। जबकि भारत के देहात मे भाषा का निजीपन अभी जीवित है क्योंकि शहरों की अपेक्षा वहाँ का प्रवेश बहुत अधिक नहीं बदला है।

भारत में शिक्षा प्रणाली में हिन्दी का स्थान महत्त्वपूर्ण है कई राज्यों

स्कूलों और कॉलेजों में हिन्दी को एक प्रमुख विषय के रूप में पढ़ाया जाता है इसके अलावा हिन्दी माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों की संख्या में वृद्धि हुई है।

भूमंडलीकरण और मीडिया का गहरा प्रभाव भी हिन्दी के स्वरूप को बदल रहा है। आज मेडोना जैसी पॉप गायिका कबीर के दोहे गा रही हैं। मीडिया पर बाजारवाद के बढ़ते प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दी भाषा बाजार की भाषा बनती जा रही है, जो इस तरह से तोड़ी मरोड़ी जाती है, कि बिकाऊ बनी रहे। विचारणीय प्रश्न यह है कि आज के उपभोक्तावादी युग में बाजार की ऐसी व्यवस्था क्यों है कि उसे हिन्दी ऐसे स्वरूप में प्रयोग में लाना पड़ रहा है। यह भी विचारणीय है कि यदि वह हिन्दी से अशुद्ध बसमानक स्वरूप अपनाता है तो क्या हानि है।

अब बात करते हैं आज के सोशल मीडिया में प्रयुक्त हिन्दी के स्वरूप की।। वैसे तो सोशल मीडिया के माध्यम से हिन्दी भाषा का बहुत तेजी से विकास हो रहा है। और जन भाषा के रूप में वह तेजी से उभर रही है। उसके भिन्न-भिन्न तेवर और भिन्न भिन्न क्षेत्र है। जैसे फेसबुक ट्विटर और इंस्टाग्राम आदि प्लैटफॉर्म पर लोग हिन्दी में लिखने और संवाद करने में सहज हो गये हैं। यह भाषा की पहुँच को और भी विस्तारित कर रहा है। इसके साथ ही हिन्दी साहित्यिक लोक भाषिक, आंचलिक, क्षेत्रीय, महानगरीय, ग्रामीण वैश्विक रूपों में आ रही हैं। वहीं बालकों की हिन्दी, स्त्रियों की हिन्दी, लेखकों की हिन्दी, राजनीतिज्ञों की हिन्दी, किसानों को हिन्दी, व्यापारियों की हिन्दी और धार्मिक जगत की हिन्दी के रूप में उभर रही है।

जब हिन्दी का स्वरूप इन सभी स्तर पर बदल रहा है, तो तकनीकी स्तर पर कैसे पीछे रह सकता है। डिजिटल युग में हिन्दी का स्वरूप एक नयी दिशा में जा रहा है। इंटरनेट और मोबाइल ऐप में हिन्दी भाषा को एक नया प्लेटफॉर्म प्रदान किया है। आज लोग हिन्दी में ब्लॉग लिखते हैं, वीडियो बनाते हैं और ऑनलाइन पाठ्यक्रमों का उपयोग करते हैं स्मार्टफोन के उपयोग में वृद्धि के साथ साथ हिन्दी में कई मोबाइल एप्लीकेशन भी विकसित हो रहे हैं। ये एप्स न केवल भाषा सीखने में मदद कर रहे हैं, बल्कि हिन्दी में संवाद करने के नए तरीके भी प्रदान कर रहे हैं। इसके साथ ही नई शब्दावली और लघु भी विकसित हो रहे हैं।

साथ ही सांस्कृतिक और साहित्यिक समृद्धि भी हिन्दी भाषा के स्वरूप में बदलाव ले कर आयी है। वो ना इसका स्वरूप क्षेत्रीय भाषाओं और बोलियों के समावेश से और अधिक समृद्ध हो रहा है।

देश के विभिन्न हिस्सों में आने वाले शब्द और रिवाज हिन्दी मे शामिल हो रहे हैं। साथ ही हिन्दी साहित्य में विविधता बढ़ रही है। नयी पीढ़ी के लेखकों हिन्दी की सीमाओं को तोड़कर नए विषयों और शैलियों को अपनाया है।

वैश्वीकरण के चलते हिन्दी भाषा का प्रयोग अंतरराष्ट्रीय स्तर पर बढ़ रहा है कुल मिलाकर देखा जाए तो हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है।

निष्कर्ष

अंत में हिन्दी भाषा के बदलते हुए स्वरूप को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि वैश्विक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, शैक्षिक व वैज्ञानिक फलक पर हिन्दी भाषा मुक्त रूप से अग्रसर है। उसके क्षेत्र का विस्तार हुआ है। उसे मानक रूप की अपेक्षा उसका जन-स्वरूप अधिक उभर रहा है। वह अधिक से अधिक जनता की अभिव्यक्ति का माध्यम बन रही है। भले ही हिन्दी रूप बदल रही है। पर यह बिल्कुल वैसा ही है जैसे कोई नायिका की दृश्य ही माँग पर बार-बार वेशभूषा बदल लेती हैं, पर अपना वास्तविक रूप नहीं बदलती। जब जीवन बदल गया रहन सहन बदल गया, जीवन मूल्य बदल गये तो भला भाषा क्यों नहीं बदलती।

हिन्दी भाषा का बदलता स्वरूप न केवल उस की विकास यात्रा को दर्शाता है बल्कि यह भी बताता है कि समाज में हो रहे परिवर्तन के साथ साथ भाषा भी बदलती है। आने वाले समय में हिन्दी और अधिक समृद्ध होगी। बशर्ते हम इसके मूल तत्व को बनाये रखें।

संदर्भ सूची

1. वर्मा डॉ. रामकृष्णा, 'हिन्दी भाषा और साहित्य', प्र. सं. 2018, हिन्दी अकादमी, दिल्ली
2. दास डॉ. श्यामसुन्दर, 'हिन्दी का विकास : एक ऐतिहासिक दृष्टि', द्वि. सं. 2020, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, वाराणसी
3. जैन डॉ. राधिका, 'भाषा और समाज', प्र. सं. 2019, ज्ञान ज्योति प्रकाशन, मुंबई।
4. कुमार डॉ. अजय, 'हिन्दी का वैश्वीकरण', प्र. सं. 2021, नई हिन्दी पुस्तकालय, दिल्ली
5. लता डॉ. सुमन, 'समकालीन हिन्दी और उसकी चुनौतियां, प्र. सं. 2022, भारतीय भाषा प्रकाशन, लखनऊ
6. शर्मा डॉ. हेमंत, 'हिन्दी भाषा का सामाजिक संदर्भ', प्र. सं. 2021, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
7. चन्द्र डॉ. सतीश, 'हिन्दी साहित्य में आधुनिकता', द्वि सं. 2019, वाणी प्रकाशन, दिल्ली
8. त्रिपाठी डॉ. अनुसूया, 'डिजिटल युग में हिन्दी भाषा', प्र. सं. 2023, पुस्तक भारती, भोपाल
9. तिवारी डॉ. मनोज, 'हिन्दी की नई संवेदनाएं', प्र. सं. 2020, संकल्प प्रकाशन, पटना
10. गोस्वामी डॉ. लता, 'भाषा संस्कृति और हिन्दी', प्र. सं. 2022, सर्जनात्मक प्रकाशन, इलाहाबाद
11. चन्द्र डॉ. नरेश, 'हिन्दी का सांस्कृतिक संदर्भ', प्र. सं. 2021, हिन्दी साहित्य परिषद, जयपुर
12. अग्रवाल डॉ. पूजा, 'वैश्विकहिन्दी चुनौतियाँ और संभावनाएँ', प्र. सं. 2023, विश्व भाषा संस्थान, दिल्ली
13. कुमार डॉ. अरविंद, 'आधुनिक हिन्दी कविता का विकास', प्र. सं. 2020, कृति प्रकाशन, दिल्ली
14. देवी डॉ. सुमित्रा, 'हिन्दी में उर्दू का प्रभाव', प्र. सं. 2022, साहित्य शिखर, दिल्ली।
15. मल्होत्रा डॉ. विजय, 'हिन्दी भाषा का भविष्य', प्र. सं. 2023, ज्ञानेन्द्र प्रकाशन, चंडीगढ़

पीएच.डी (शोधार्थी),
दिल्ली विश्वविद्यालय

●

नाटक-अंश : 'कृष्ण प्रसंग'

रमा यादव

मंगलाचरण

सूत्रधार–

ये कथा है एक इंगित पर
धरती-पाताल-आसमान के थिरकने की
सूर्य और चन्द्र के थकित रह जाने की
पीपल पातों के श्याम रंग में डूबने उतराने की
किसी की बाँसुरी के सुरों में रात दिन के बनने और मिट जाने की
कदम्ब की डाल के झुकने-झूमने की
सारे ब्रह्मांड के त्रिभंगी मूरत में घुल-मिल जाने की
वर्तमान में रहने और भूत-भविष्य से तटस्थ हो जाने की
न शोच की, न हर्ष की, न विषाद की न आकांक्षा की
सत्ता के चरित्र और
परिस्थितियों के घात-प्रतिघात को सुलझाने की
शुभ और अशुभ के परित्याग की
कर्म पर दृष्टि की
आत्म परिग्रह और इन्द्रियों के निग्रह की
मैं कुछ नहीं करता
विद्वान् ऐसा माने की तर्ज पर कर्तापन के अभिमान से रहित
हो जाने की
चलते चले जाने की
चलते जाने की

अंक-1

दृश्य-1

(मंच सज्जा अत्यंत साधारण। मुरली की तान लगातार बज रही है। मंच पर सूत्रधार का प्रवेश)

सूत्रधार : हे कृष्ण यह है तुम्हारा परिचय। इसे सृष्टि का कोई सुर-लय-ताल-शब्द अपने में गूंथ नहीं सकता। सोलह कला सम्पूर्ण तुम सृष्टि के सबसे बड़े कलाकार। गिरा तुम्हारी कहानी कहने में असमर्थ हो जाती है। हे यादव फिर क्योंकर तुम्हारा बखान अपनी इस गिरा से करें बताओ तो हमारी अनगढ़ कला क्योंकर तुम्हे व्याख्यायित करे। युग-युग से न जाने कितने-कितने कवियों ने तुम्हारे जीवन पर अपनी-अपनी तरह से कलम चलायी है। तुम्हारे दर्शन को समझने-समझाने का प्रयत्न किया है। उसी समुद्र की एक लघु बूँद बनने की कोशिश हमारी भी है। तुम क्या गए जैसे सब ओर निराशा सी छा गयी। तुम्हारी बंसी की धुन सुनने को यमुना तट वीरान सा पड़ा है। मधुबन भी उदास है। तुम्हारे विरह में सब फीका सा है।
अब ज्यादा क्या कहूँ! अभी तो हे तात! हे कान्हा! कुछ चिट्ठियाँ आई हैं। एक वृद्धा उन्हें लिए तुम्हारा पता पूछती फिर रही है। कहाँ से आई है? अरे यह चिट्ठियाँ तो तुम्हारे ही धाम से और तुमसे बिछड़े बहुतेरे लोगों की हैं। कहो तो बाँचे श्याम ..तुम मना थोड़े ही करोगे श्याम ..लो तो हम बाँचे दिए देते हैं। चिट्ठी कुछ इस प्रकार है हे द्वारकाधीश..लो अरे वो तो स्वयं ही चलीं आ रहीं हैं। सफ़ेद वस्त्रों में लिपटी... वो वृद्धा कैसी तो रमणीय लग रही है। उसका दमकता मुख उसके अतीत की भव्य गाथा कहता प्रतीत होता है। तो श्याम अब तुम उन्हीं से सुनों मैं तो चलता हूँ। (सूत्रधार चलते-चलते दर्शकों से) ये हैं कृष्ण प्रेम में पगी वृन्दावन में रहने वाली एक विधवा, आप उसे कृष्ण सखी भी कह सकते हैं। उसकी चिठ्ठी अब उसी की जुबानी हम आप सुनेंगे।

कृष्ण सखी : (बगल में एक गठरी दबाये है, सिर पर पल्लू। जैसे कुछ ढूँढ रही है। कृष्ण! कहाँ हो कान्हा! ....कब से तुम्हें पुकार रहीं हैं ..अब तो दरस दे दो कृष्ण मुरारी ...मैं हूँ...मैं ...कौन हूँ? ..परिचय मेरा इतना-सा की मैंने तुमनें सखा भाव से ध्याया है। और अपने ही जैसी न जाने कितनी सखियों और तुम्हारे परिचितों का संदेसा तुम्हारे लिए लाई हूँ। कान्हा अब आ भी जाओ ..बड़ी आस लेकर आई हूँ ..द्रौपदी की पुकार पर तुम चले आये। द्वापर में सारी गोपियों की आस-साध पूरी कर दी, भागवत की ललिता और अपनी आराधिका को संग कर लिया ...विधृता के मान की लाज रख ली, कुब्जा का रूप बढ़ा दिया तनिक हमारी भी सुन लो सखा ..बड़ी आस लेकर आयीं हैं! तुम तो सबके सखा हो। तुम ही कहते हो कि सब में एक आत्म बसा है तो फिर मेरी विनय को यूँ न ठुकराओ ..कान्हा आओ... (पांचजन्य की ध्वनि के साथ मंच का प्रकाश बदलता है। कृष्ण मंच पर प्रविष्ट होते हैं और आकर अपनी त्रिभंगी मुद्रा में खड़े हो जाते हैं)

कृष्ण सखी : कृष्ण प्यारे को नमन। आप आ गये कृष्ण ..बहुत सुना था आपका बखान वृन्दावन की गलियों में। उन गलियों के पात-पात में आपको देखा और महसूस किया है। आज आपके नाम की कुछ चिठ्ठियों को बाँचने को आई हूँ कान्हा। हम आपके उसी धाम वृन्दावन में रहतीं

हैं जिसके लिए भारतेंदु हरिश्चंद्र ने कहा था-ब्रज के लता-पता मोहि कीजो ...और एक प्रेम दिवाणी मीरा उन कुञ्ज गलियों में ठौर-ठौर आपका नाम लेते घूमती फिरी थी। आपका नाम जपकर हम विधवाओं का कम से कम आपके धाम में रहना तो संभव हुआ। अन्यथा तो इस समाज ने हमारा सम्पूर्ण तिरस्कार ही कर दिया था। आपको देखकर आँखें तृप्त हो गयी। कृष्ण हम यह जानना चाहतीं हैं कि जब आप पर ब्रह्म परमेश्वर हैं तो फिर ये असमानता का जीवन बनाया ही क्यों। क्यों इतना द्वैत? जिधर नज़र जाती है उधर बस कुछ ऐसा कि आँख बंद कर लें। कहीं त्राण नज़र नहीं आता।

यह रीत कहाँ की है कि पति के न होने पर हम विधवाओं का ऐसा तिरस्कार हो। हमें हमारी भूमि से अलग कर दिया जाए और हमें हमारे स्वभाव के विपरीत बरतने को कहा जाए। हे श्याम तुमने भी हमारी सुध न ली तुम तो अद्वैत में विश्वास करते हो फिर हमारे साथ ऐसा भेदभाव क्यों?

कृष्ण : (मुस्कुराते हुए) सखे मैंने तो सबको अपना सखा ही माना है। मेरे मन में तो किसी के लिए कोई द्वैत है ही नहीं। कभी किसी को पराया समझा ही नहीं। मुझे क्या मालूम था कि ये विश्व कन्हैया के सुदर्शन की धार और उसकी बंसी की तान को ऐसे व्याख्यायित करेगा। मेरे मन के सब इतना करीब कि मुझे अपने में और सामने वाले में कोई भेद लगा ही नहीं। तुम्हें याद नहीं क्या द्वापर युग की! उस युग में तो कितने-कितने मेरे जीवन में आये और सब मेरे होते चले गये कहाँ कोई भेद रहा।

कृष्ण सखी : क्यों झूठ बोलते हो श्याम, तुम तो बचपन से ही छलिया रहे हो। हम अपनी व्यथा तो क्या कहें अगर यही बात है तो देखो न वो मात यशोदा कैसी तड़पती नज़र आ रहीं हैं, वो दूर देखो बहुत दूर...तुम तो दूरदर्शी हो हे यादव...देखो दीख रहा है कुछ...वहाँ देखो न द्वापर से कलियुग तक आते-आते मात यशोदा कैसी बेहाल हो गयी हैं अपने कान्हा के लिए। तुम तो उन्हें जीते जी छोड़ गये तुम्हें उनकी तनिक याद न आयी। देखो श्याम वो वृद्धा जो कभी इतनी रमणीय थी जो गोकुल की रानी और नन्द के हृदय की पटरानी थी। देखो कैसी धूल-धूसरित हुई पड़ी है। भक्तिकाल में एक मात्र सूरदास हुए जिन्होंने द्वापर के बाद उनकी सुध ली वरना तो कोई सुधी लेने वाला बचा ही न था ..देखो तो श्याम प्यारे अपनी दूरदर्शी आँखों से अपनी माँ के बहते आँसू भी देख लो ..उसके काले लम्बे मुलायम केश देखो तो कैसे उजाड़ से हो गये हैं ..सारा गोकुल पलायन कर गया पर वो वहीं बैठी है तुम्हारी प्रतीक्षा में नन्द कितना-कितना तो समझाते हैं। देख रहे हो हे देवकी नन्दन ..सुनो तो तुम्हारे कानों में पड़ रहे हैं उनके सुर ..देखो तो वो आज भी तुम्हें पालने में झुला रही है...

सूत्रधार : कृष्ण अपनी त्रिभंगी छोड़ वही बैठ जाते हैं दूर देखते से खो जाते हैं, उनकी आँखें आँसुओं से लबालब भर आयीं हैं ..छल- छल- छल..यशोदा मईया करीब नज़र आने लगती हैं, उनके तन के कपड़े एकदम फट गये हैं ..केश एकदम बिखरे हुए ..एकदम धवल ..खूब लम्बे ..वो अपने में खोई ..लोरी गा रही हैं और अपने हाथों में एक गठरी को थामें हिला रही है–

यशोदा : (लोरी गाते हुए)

जसोदा हरि पालनैं झुलावै
हलरावै, दुलरावै मल्हावै, जोइ-जोइ कछु गावै।।
मेरे लाल कौं आओ निंदरिया काहे न आनि सुलावै।
तू काहैं नहिं बेगही आवै, तोकौं कान्ह बुलावै।।
जसोदा हरि पालने झुलावै
जसोदा हरि पालने झुलावै
हौं तो धाइ तिहारे सुत की
ओ देवकी हो तो धाइ तिहारे सुत की
दया करत ही राहियो
मैया लाला पालने झुलावे ...
सुबह उठत ही मेरे लाल को माखन रोटी भावे
संदेसा देवकी सौं कहियो
यशोदा हरि पलने झुलावै
यशोदा हरि पालनें झुलावै

(श्याम दौड़ पड़ते हैं और यशोदा को अपने दोनों हाथों में थाम लेते हैं। यशोदा लगभग पूरी की पूरी कृष्ण के बलिष्ठ बाहुओ में समां जातीं हैं। वो बार-बार अपनी आँखें मसल रहीं हैं ..जैसे उन्हें कुछ दृष्टिगत ही न हो रहा हो। उनके सारे केश उनके मुख पर आ गये हैं...प्रकाश केवल कृष्ण और यशोदा पर केन्द्रित है)

यशोदा : कृष्ण तुम आ गये ...मेरे पुत्र ..मेरे लाल तुम आ गये ..अब जाना मत ..देखो मैं तुम्हारे लिए माखन बनाती हूँ ..जाने घर कहाँ गया ..सब उजाड़ सा लग रहा है ..तुम्हारे बाबा ही प्रत्येक दिन मुझे सँभाले हैं अब वो भी दृष्टिगत नहीं हो रहे ..ठहरो रुको जाना मत...देवकी के पास मत जाना वो तुम्हें फिर मेरे पास वापस नहीं आने देगी। वो तुम्हें अपने पास ही रख लेगी। बहुत सुख देख लिया उसने ..अब मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगी कभी नहीं जाने दूंगी। देवकी ने तनिक बड़प्पन नहीं दिखाया। तुम्हें छिपा कर ही बैठ गयी उसे तनिक लाज नहीं आई। अरे गोकुल के सारे लोग-लुगाई कहाँ गये ..देखो तो अपना कान्हा आया है ..देवकी से लड़-भिड़कर ..जल्दी आओ रे सगरे लोग-लुगाई ..देखो तो ..जल्दी आओ ...गोपियों तुम्हीं तो कहती थीं न कि तुम्हारी अँखियाँ हरी दरसन की भूखी हैं लो अब देख लो अपने सांवरे को ..देखो तो श्याम ये कालिंदी तुम्हारे वियोग

में कैसी काली पड़ गयी है। इसका सारा जल ही सूख गया। तू क्या गया सब उजाड़ हो गया। आ पुत्र आ चल घर चलें अब वहीं रहेंगे...
(कृष्ण अपनी चुप्पी तोड़ते हैं...)

कृष्ण : माँ

यशोदा : (तड़प उठती है, अपनी छाती को थामकर अपने आँसुओं को रोकने का प्रयास करती है तो एक हुक निकल

कृष्ण : माँ

यशोदा : कान्हा

कृष्ण : अपने कान्हा को क्षमा नहीं करोगी माँ, कब तक यों तड़पती रहोगी ..द्वापर युग कब का बीत चुका ..मैं कब का अपने धाम जा चुका हूँ माँ ..अपने सारे कार्यों को करके ..जिन्हें करने इस पृथ्वी पर आया था। मनुष्य मात्र को जाना ही पड़ता है माँ। ये नाते-रिश्ते बस कुछ ही पल के होते हैं ..गोसाईं जी लिख भी गये हैं ..पंथ के साथी ज्यों लोग-लुगाई ..वो तो बिछड़ते ही हैं माँ ..हमें भी बिछड़ना था ..

यशोदा : मैं कोई पंथ की साथी लोग-लुगायी नहीं मैं तेरी माँ हूँ रे कान्हां ..मुझसे बिछड़ना था ये ठीक है पर देवकी को द्वारका की पटरानी और मुझे ये युगों का एकाकी कारावास ..
माँ...देवकी की भी बहुतेरी शिकायतें होंगी मुझसे .. .पर मैंने उन्हें सुना नहीं। मैं जानता हूँ कि देवकी माँ को इतनी तसल्ली तो थी कि मैं लौट आया पर सच मानों मैं उनका कभी हुआ नहीं। पर तुम अब और मुझे पाप-बोध मत दो माँ मैं लौट आया हूँ। तुम्हें अब विश्राम करना होगा।

यशोदा : कृष्ण तर्पण करने को पुत्र होता है, तुम्हें हम बूढ़े माता-पिता पर दया न आई कि कौन हमारा पिंडदान करेगा ससूरदास जैसे मर्मग्य कवि भी यह प्रश्न उठाना भूल ही गए। पर वात्सल्य का वर्णन कर उन्होंने मुझे याद किया कान्हा तेरे संग। मैं ऋणी हूँ उनकी।

कृष्ण : माँ अब मुझे क्षमा करो ..मैं वर्तमान में रहता हूँ और यही मेरी नियति है। मैंने खुद को ऐसा बनाया है और मानव के हाथों में एक सूत्र भी दिया है कि वर्तमान में रहो। पर सोचो तो जब तुम ही मेरा साथ न दोगी तो मानव मात्र क्या करेगा। अपने बनाये दर्शन पर चलना आसान नहीं होता माँ। आखिर दो माओं का लाल होकर भी सहना तो मुझे ही पड़ा ...मैं किसी भी माँ का पूर्णतः न हो सका ..मेरा स्वयं का पथ था जिस पर मुझे चलना था। और यह तुम्हारा पथ है माँ जिस पर तुम चलती रही हो। अपनी-अपनी मुक्ति का पथ हमें स्वयं ही तलाशना होगा माँ। यह यात्रा हमारी स्वयं की है। अब मुझे चलना होगा माँ। चाहता हूँ अब तुम अपनी मुक्ति पथ पर आगे बढ़ो। मुझे जाने दो और प्रण करो की अब कभी नहीं रोओगी ..
(कृष्ण माँ के सिर पर एक दुलार भरा हाथ फेरतें हैं ...यशोदा अपनी आँखें बंद कर लेतीं हैं। धीरे-धीरे प्रकाश मद्धिम पड़ता है।)

कोरस : **दुःखेश्वनुद्विगनमनः सुखेषु विगतसस्प्रहः।**
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।
अर्थात् वीतराग भय और क्रोध से रहो
हर स्थिति में धीर बने रहो
मैंने कहा
पर राग तो मुझे भी बाँधता रहा।
तोड़ता उसके बंधन मैं स्वयं रहा काटता उसके तार को हर पल रहा
झूझता रहा उतराता रहा हर चुनौती को झेलता
तटस्थ उससे बना रहा
जो कुछ कहा उस पर स्वयं को कसता रहा
अपनी कसौटी मैं आप रहा

'शून्य' रंग-संस्था की संस्थापक,
एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
मिरांडा हाउस, दिल्ली विश्वविद्यालय

●

'कृष्ण प्रसंग' नाटक का एक दृश्य

दो गीत

राजेंद्र गौतम

उजाला छिन न पाएगा

यह धुआँ
सच ही बहुत कडुआ घना काला
क्षितिज तक दीवार
फिर भी बन न पाएगा।

लाश सूरज की दबी चट्टान के नीचे—
सोच यह मन में
ठठा कर रात हँसती है
सुन अँधेरी कोठरी की वृद्ध खाँसी को
आत्ममुग्धा—गर्विता यह
व्यंग्य कसती है

एक जाला-सा
समय की आँख में उतरा
पर उजाला
सहज ही यों छिन न पाएगा।

संखिया कोई कुओं में डाल जाता है
हवा व्याकुल
गाँव भर की देह है नीली
दिशाएँ निःस्पन्द सब
बेहोश सीवाने
कुटिलता की गुंजलक
होती नहीं ढीली
पर गरुड़-से
भैरवी के पंख फैलेंगे
चुप्पियों के नाग का फन
तन न पाएगा।

काजल नही बुहरा

क्षितिज पर दो
रश्मि की अब तो ऋचायें टाँक
हो गया गाढ़ा
नदी के पाट पर कुहरा!

उठीं चारों ओर
दीवारें अँधेरों की
बहुत ऊँची
क्या पता पूरी सदी ही
दबदबा जाए रसातल में
वक्त की बूढ़ी हथेली से
बिछलता सत्य पारे-सा
विजय-गाथा के कथानक
कैद हैं युगबोध के छल में
ज्योतिपंखी गीत तो सब
सो रहे हैं मौन
दिशाएँ धूमिल सभी
काजल नहीं बुहरा!

सर्जना की थरथराती—
उँगलियों के पोर घायल
कौन आँके
इन घरों के द्वार पर अब अल्पनाएँ?
पाँव हों या पंख
मंजिल तो नहीं दिखती कहीं पर
नागपाशों में
सभी जकड़ी हुई हैं कल्पनाएँ
देहरी पथरा गई
थी रोशनी की बाट,
अब उसी की माँग
सन्नाटा रहा दुहरा!

छन्द के दीपक नहीं
अब तक जले
सरिता-तरंगों पर
रागिनी कुमकुम रची
गूँजी नहीं
क्यों सब दिगन्तों से
कथा जन-अभिषेक की
हर बार क्यों रहती अधूरी
क्या त्वचा संकल्प की छिदती रहेगी
गरलदन्तों से
क्या अजाना ही रहेगा
गाँव भर का दर्द
सिसकते सीवान हैं—
जिसको रहे गुहरा?

सेवानिवृत्त प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

●

बेटी भी हो, लाडली हो तुम

राज भारद्वाज

बेटी भी हो, लाडली हो तुम
दिल में बसी फिर कहाँ जाओगी?
बेटी भी हो, लाडली हो तुम

मन मिल रहे हैं घर जुड़ रहे हैं
जुड़ते-जुड़ते दिलों में उतर जाओगी
बेटी भी हो, लाडली हो तुम

पापा की परी, तो परी ही रहोगी
वो पापा की उँगली, वो पापा का काँधा
वो पापा की मोटर, वो रोटी का साँझा
विचारों में बसता-बसता मैं, तेरे संग चला जाऊँगा
बेटी भी हो, लाडली हो तुम...

माँ की छाया, वो ममता का आँचल
आगे ही आगे बढ़ने की बातें, तुझमें खुद की जीने की चाहें
संस्कारों में घुली मैं तेरे संग चली जाऊँगी।
बेटी भी हो, लाडली हो तुम

नया रंग नया संसार है, वो खुशियों से भरा नवाकाश है
कदम तुम बढ़ाओ, न हिचकिचाओ
उस पार भी तो हमारा ही विस्तार है
धीमे-धीमे मिश्री सी घुलती चली जाओगी
बेटी भी हो, लाडली हो तुम

सब कुछ वहाँ है
सब कुछ वहाँ है
वहाँ भी है ममता का आँचल
तेरे लिए फौलादी बाहें
वो अनुजा का शोखी
वो बंधु की थपकी
वहाँ खिलखिलाओ, वहाँ खिलखिलाओ
यहाँ मुस्कुराहट बन अधरों पर हमारे चली आओगी
बेटी भी हो, लाडली हो तुम
दिल में बसी फिर कहाँ जाओगी?

प्राचार्या, भगिनी निवेदिता कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

●

प्रो. रमेश गौतम सर स्मरण

अमित कुमार

मैं अमित कुमार हूँ। हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय में मेरी सीधी भर्ती अप्रैल, 2007 में वैयक्तिक सहायक के पद पर हुई। जिस समय मेरी नियुक्ति हुई, उस समय मेरे अतिरिक्त एक भी कर्मचारी सीधी भर्ती से नहीं आये थे। मेरी नियुक्ति स्व. प्रो. रमेश गौतम के हस्ताक्षर से ही हुई थी। मैं पटना से हूँ। घर में साहित्य और संगीत का अच्छा माहौल था। माँ (स्व. उषा किरण) रसखान और तुलसी रामायण का पाठ बड़े सुर-लय में करती थीं। वहीं पिताजी (स्व. सुधीर सिन्हा) मुख्यमंत्री सचिवालय में वरिष्ठ पदाधिकारी थे और बैंजो-वादन करते थे। बड़े भैया (संजीव कुमार, मुम्बई) संगीत के विद्वान गिटार-वादक, बड़ी दीदी (सीमा सिन्हा, जबलपुर) गुणी वायलिन वादिका और छोटी बहन (निशि सिन्हा, दिल्ली) गुणी सितार वादिका। स्वयं मैं सरोद में। इसके अतिरिक्त हमारा अपना टाइपिंग-शॉर्टहैंड का संस्थान भी था, जिसमें छात्र मेहनत कर रिकॉड-तोड़ संख्या में नौकरी पाते थे। पिताजी, भैया और मेरे छात्रों की संख्या तो अनगिनत थी ही, मेरी माँ की भी अनगिनत छात्राएँ थीं, जो उनसे शॉर्टहैंड की शिक्षा पाकर सरकारी नौकरियों में नियुक्त थीं।

स्वर्गीय गौतम सर से पहली मुलाकात हुई थी कुलपति कार्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय में। साल 2006। जब मैं उक्त पद के अंतिम चरण-साक्षात्कार– के लिए आया। सफेद कमीज और काले पतलून में मैं अंदर कमरे में दाखिल हुआ। चयनितों की लिखित परीक्षा की उत्तर पुस्तिकाएँ मेज पर रखी थीं। उनके साथ में चार और सदस्य भी थे, जिनमें से एक थे प्रो. सुधीश पचौरी, दूसरी थीं हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय की स्व. डॉ. सुजाता। शेष को मैं नहीं जानता था। मेरी बारी में मेरी लिखी उत्तर पुस्तिका पलटते हुए गौतम सर ने मेरी लेखन-शैली की बड़ी तारीफ की। ''आपने सारे उत्तर बहुत अच्छे-से लिखे हैं और निबंध तो इतना अच्छा लिखा है जैसे किसी किताब से उतार ली हो।'' मुझे क्या पता था कि ये हिन्दी के विभागाध्यक्ष हैं! मैंने–'जैसे किसी किताब से उतार ली हो'–वाक्यांश को आड़े हाथों ले लिया। मैंने विरोधी स्वर में कहा कि 'सर, आपने बिहार की एक 'आम पहचान' को पकड़ लिया है, लेकिन उसकी 'विशेष पहचान' को नहीं पकड़ पाये। आपको क्या लगता है कि मैंने किसी किताब से चोरी की है? यह मेरा मूल लेखन है, एक-एक शब्द मैंने परीक्षा हॉल में गढ़कर लिखे हैं।' मेरे विरोधी स्वर पर इसके पहले कि गौतम सर कुछ कहते, पास बैठे पचौरी सर ने मामले को शांत किया कि 'अरे बेटा! ये आपकी तारीफ कर रहे हैं, इनके शब्दों की गहराई में जाइये'। कुछ ऐसे ही तारीफों और विरोधों के बीच मेरा साक्षात्कार अच्छा रहा था। आज उस वाकये को याद कर बड़ी हँसी आती है। लगभग 20 मिनट तक कई बातें हुईं– पारिवारिक पृष्ठभूमि व संगीत-प्रेम को लेकर भी। साक्षात्कार के दौरान मैंने पंडित रविशंकर के घराने से ही सरोद की तालीम पायी है, इस पर साक्षात्कार-समिति भौंचक भी हुई! इस तरह गौतम सर से पहली मुलाकात काफी दिलचस्प रही थी।

स्वर्गीय गौतम सर हिन्दी विभाग के दो बार अध्यक्ष रहे। मैंने 2007 में अप्रैल में कार्यालय ग्रहण किया था। उसी वर्ष सितम्बर तक वे अध्यक्ष रहे थे। इस तरह बतौर अध्यक्ष मैंने उनके साथ केवल छह माह का समय बिताया। विभागाध्यक्ष हो जाना एक प्रक्रिया है, जिसके तहत विश्वविद्यालय यह तय करता है कि फलां वरिष्ठ विभागाध्यक्ष बनेगा, परंतु इस पद के साथ न्याय करना सबके वश की बात नहीं होती। मेरी अपनी समझ में वे हिन्दी विभाग के 'प्रतापी अध्यक्ष' थे। आज, विभाग जब कई बार ढुलमुल चाल से चलता है, तब मैं उनके 'प्रताप' की कमी को बहुत महसूस करता हूँ। अस्तु, काम की दृष्टि से आमतौर पर दो तरह के अध्यक्ष पाये गये हैं। एक, जिन्हें काम की जानकारी नहीं होती। वे न जानकारी लेना चाहते हैं और न कोई पहल करना चाहते हैं, हाँ उनसे हस्ताक्षर कितने भी करवा लो। दूसरे वे होते हैं जो स्वयं जानकार होते हैं और हस्ताक्षर से पूर्व हर बिन्दु की होशमंदी रखते हैं। गौतम सर दूसरे प्रकार के अध्यक्ष थे।

विभाग में उनके कदम रखते ही कार्यालय की ऊर्जा बढ़ जाती थी। विभाग में हो रहे या होने वाले कामों की वे पूरी जानकारी रखते थे और जब तक काम ढंग से पूरा न हो, उस पर पैनी नज़र रखते थे। चूंकि वे काम के धुनी थे, इसीलिए पैनी नजर भी रखते थे।

उनके समय में ही स्नातक-स्तरीय पाठ्यक्रम वार्षिक पद्धति से सेमेस्टर पद्धति की ओर परिवर्तित हो रहा था। बात जब भी हिन्दी विभाग के पाठ्यक्रमों की होती है, उनको बहुत ही शिद्दत से याद किया जाता है कि अपने समय में बनने वाले पाठ्यक्रमों में उन्होंने हिन्दी साहित्य की हर विशेषज्ञता का ध्यान रखा। यह नहीं किया कि अपनी विशेषज्ञता 'रंगमंच' का पाठ्यक्रम डाला जा रहा है तो हर तीसरा/चौथा पाठ्यक्रम रंगमंच से ही जुड़ा रखा। नहीं तो ऐसा देखा गया कि भाषाविज्ञानी अध्यक्ष ने हर तीसरे/चौथे पाठ्यक्रम में भाषा से जुड़ा पाठ्यक्रम रखा। अब 'भाषा' का दायरा तो सीमित दायरा है, परंतु 'रंगमंच' का विस्तृत। बावजूद इसके, गौतम सर ने अपने समय के पाठ्यक्रमों में हिन्दी विषय के हर पहलू में साम्यता को बनाये रखा। वे विभाग में सुबह आते और शाम को जाते। विभाग को उत्तम बनाने के लिए खूब समय दिया। काम को लेकर किसी किस्म की राय लेनी हो, तो वे हाजिर रहते।

उनके शिष्यों की लंबी फेहरिस्त है और लगभग सभी स्थायी नियुक्तियों में परचम लहरा रहे हैं। नवीन शिष्यों में डॉ. धर्मेन्द्र प्रताप सिंह विभाग में ही सहायक प्राध्यापक के पद पर अपनी सेवा दे रहे हैं। उधर, डॉ. स्वाति सोनल भी कर्मचारी राज्य बीमा निगम की सहायक

निदेशक के पद पर सेवारत हैं।

हिन्दी विभाग में कर्मचारियों के बीच एक स्तम्भ हैं श्री मिश्रा जी। अपने उपनाम से ही वे जगप्रसिद्ध हैं। उनको पूरा नाम श्री परमेश्वरकांत मिश्रा है। अस्तु, उनके जन्मदिन पर गौतम सर को मैंने उन्हें उपहार देते हुए देखा है। अधिकांश को पता है कि मिश्रा जी का विभाग में क्या स्थान है।

हिन्दी विभाग में विदेशियों को हिन्दी की शिक्षा दी जाती है। मैंने कई बार गौतम सर को अपने साथी-प्रोफेसरों को यह कहते सुना है कि 'आप हमारे बच्चों की क्लास में पाँच/दस मिनट की देर से भी पहुँच जाएँ, परंतु इन विदेशियों की क्लास में पाँच मिनट पहले ही उपस्थित हो जाएँ। आपकी देरी से पूरे हिंदुस्तान का नाम विदेशों में खराब हुआ करता है।' क्या आज कोई ऐसे विभागाध्यक्ष हैं, जो इन बातों पर रोक-टोक कर पाते हों? अब पाठकगण इस प्रसंग को किस रूप में लेंगे, मुझे नहीं पता, परंतु मैं इसे गौतम सर के राष्ट्रप्रेम के रूप में देखता हूँ।

प्रो. हरिमोहन शर्मा का अध्यक्षीय काल था। हिन्दी विषय के एक लब्धप्रतिष्ठित आलोचक की सुपुत्री का हस्तलिखित पत्र—जो पाठ्यक्रम के संबंध में था—मेरे हाथ लगी। मैंने उसमें वर्तनी-संबंधी कुल बीस अशुद्धियाँ निकाल दीं। बाद में इस अशुद्धि वाले पत्र को गौतम सर को दिखाया गया। उन्होंने मेरी पीठ थपथपाई और चुप रहने को कहा। परन्तु वह चुप्पी आज टूट रही है।

एक बार एक मजेदार वाकया हुआ। कुछ ऐसी बात निकली कि गौतम सर ने कहा कि प्रो. गोपेश्वर सिंह का नंबर जल्दी बताओ, एक फोन करना है। मैं वहीं पर था, मैंने बिना रिकॉर्ड देखे ही तोते की तरह उनका नंबर फर्राटे से बता दिया। गौतम सर एकदम दंग! अगले ही पल उन्होंने चुटकी ली कि अमित भी गोपेश्वर जी की तरह बिहार से है ना इसलिए बिहार-मूल के प्रोफेसरों का नंबर याद रखता है! अगले ही पल मैंने गौतम सर का नंबर भी तोते की तरह फर्राटे से बोल दिया। गौतम सर ने खूब जोर की हँसी लगायी और कहा कि नहीं, 'अमित सबको एक समान भाव देता है।

अफसोस यह रहेगा कि उनके साथ मैंने केवल छह महीने ही काम किया। ऐसे लोगों के साथ सालों-साल काम करने से इंसान बहुत कुछ सीख सकता है। वे अध्यक्ष पद पर रहते हुए विभाग को कुछ-न-कुछ देना चाहते थे। मेरे वरिष्ठ कर्मचारियों ने मुझे बताया था कि हिन्दी विभाग के कार्यालय में कर्मचारियों की सुन्दर टेबल/मेज SAP-DRS के अंतर्गत गौतम सर के प्रभावों से ही उपलब्ध हो सकी थी।

वे किसी भी पत्र को इतना अधिक संतुलित शब्दों में लिखते थे कि मन न 'इर्द' जा सकता था और न ही 'गिर्द'। मैं उनके प्रशासनिक लेखन से बेहद प्रभावित था। पत्रान्त 'एतदर्थ' शब्द से हुआ करता था, जो उनके बाद अन्य किसी की भाषा-शैली में नहीं मिली। यह शब्द जहाँ कहीं भी मुझे दिख जाता है, गौतम सर सहसा याद आ जाते हैं।

उनकी कथनी और करनी में फर्क आमतौर पर नहीं था। अपनी सेवानिवृत्ति के बाद उन्होंने बारबार कहा कि वे सेवानिवृत्ति के बाद विभाग में नहीं दिखेंगे। यह उन्होंने सच में कर दिखाया। एक बात जो मुझे धुंधली-सी याद आ रही है, वह यह कि सेवानिवृत्ति के बाद उनका नाम किसी पी.डी.एफ. स्कीम में आया था, जिसके कुछ दस्तावेज पर विभाग के हस्ताक्षर की आवश्यकता थी, जिसे लेकर वे विभाग में दिखे थे, फिर नहीं ही दिखे। और देखिए, ईश्वर ऐसा निष्ठुर, कि समय से काफी पहले उनको हम सबसे छीन लिया! यह दुखद सूचना पाकर मुझे बहुत धक्का लगा था। परन्तु, उनका स्थान हमेशा हमारे दिलों में सर्वोपरि रहेगा।

व्यैक्तिक सहायक
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

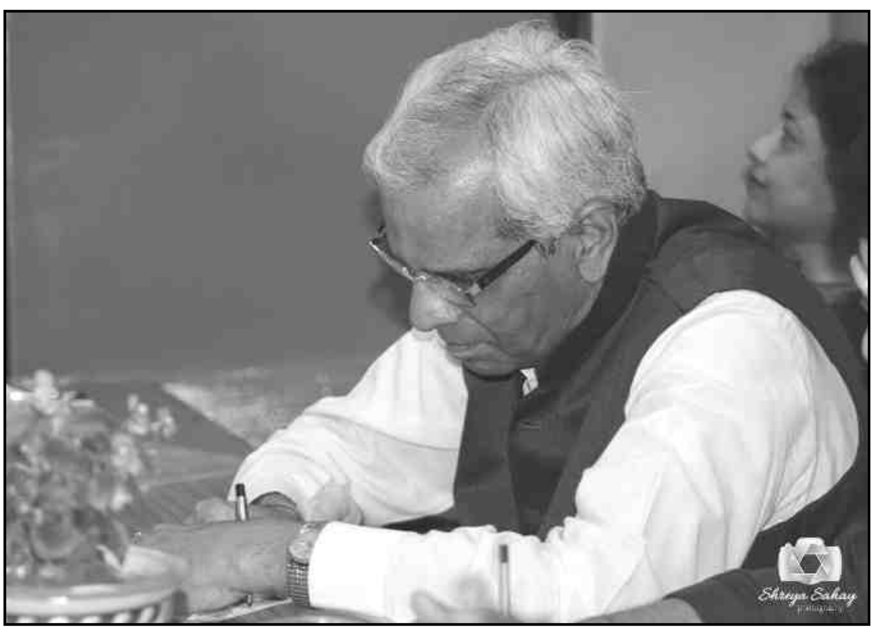

आवश्यकता चुगलखोरी केन्द्रों की

अनीता यादव

'चुगलखोर' दो शब्दों का योग है–चुगल और खोर। चुगल का अर्थ चुग लेने से है–माने जो बगुले की भाँति सलीके से दूसरे की बुराइयों को मोती-सा चुग ले। केवल इतना ही नहीं बल्कि चुगी गई बुराइयों को जहीनता से दुनिया में उगल भी दे। ऐसा नहीं है कि चुगने की इस क्रिया में केवल बुराइयाँ ही शामिल हों बल्कि इसमें अच्छाइयों को भी चुगते समय बुराई रूप में ग्रहण करने की कुशल प्रथा है। यही अति पवित्र कर्म संसार में चुगलखोरी कहलाता है और इस कर्म का कर्ता चुगल खोर। हालांकि चुगली के कर्म को हर धर्म में पापकर्म की श्रेणी में रखा गया हैं लेकिन चुगलखोर टोली इससे पवित्र कर्म किसी और को मान्यता नहीं देती। हर समाज में वैसे तो स्त्री के मुकाबले पुरुष का दबदबा अधिक है लेकिन जहाँ चुगलपंती की बात आती है वहाँ स्त्री पुरुषों के मुकाबले कई कदम आगे है। यहाँ स्त्री सम्मुख पुरुष बस एक अनसमझ बच्चा है। यह अभी तक का अनसुलझा रहस्य है कि महिलाएँ इस क्षेत्र में इतनी प्रगति आखिर कर कैसे गईं? जबकि उन्हें तो विकास की पगडंडी पर दौड़ना तो दूर की कौड़ी अभी चलना तक ढंग से न आया। न सिखाया गया! फिर समझ आया कि यह तो हमें मोबाइल के इनबिल्ट फीचर सरीखा हैं जो जन्मजात ही उपलब्ध हुआ हैं।

अब चुगलखोरी को धर्म अथवा समाज भले ही हीन दृष्टि से देखे लेकिन मनोविज्ञान इसके गाढे मायने बताता है। मनोविज्ञान के अनुसार जो महिलाएँ जितनी अधिक चुगली करती हैं वे उतनी ही मानसिक रूप से स्वस्थ रहती हैं! जिन मनोरोगों का इलाज न केवल महंगा है बल्कि समय अधिकता की माँग भी करता है, उसे महिलाएँ अपनी सहूलियत से कम -ज्यादा वक्त देकर बिन पैसे ही मात्र इस चुगली मोहतरमा के भरोसे स्वस्थ रहा करती हैं। मै दावे से कह सकती हूँ कि बात बात पर विज्ञान की दुहाई देने वाले भी मनोविज्ञान के इस विचार से अवश्य सहमत होंगे। इतना ही नहीं पुरुषों के मुकाबले हृदय आघात से जान गँवाने वाली महिलाओं की अति कम संख्या भी इस बात की बखूबी पुष्टि करती है।

चुगली के इस कर्म के पीछे का कारक भले ही ईर्ष्या को माना गया लेकिन नहीं यह कारण कतई सही नहीं हैं। असली करण अमुक व्यक्ति की प्रसिद्धि हैं। यही करण हैं कि हम शत्रु से ज्यादा मित्र की चुगली करते हैं। इससे न केवल परम मित्र को मानसिक रिलीफ़ मिलता हैं बल्कि जिस व्यक्ति की चुगली की जा रही उसकी पॉपुलरिटी आसमान छूती हैं। अगर चुगल खोरी के फैलाव की बात की जाए तो इस कर्म के शुरूआती दौर के केंद्र में कोई एक मित्र अथवा शत्रु ही होता है। फिर धीरे-धीरे उस मित्र/शत्रु को ये चुगली मोहतरमा परिधि पर ला पटकती हैं और उनसे होते हुए परिवार, नातेदार-रिश्तेदार आदि को केंद्र में स्थापित कर देने का माद्दा रखती हैं। इसलिए इस मोहतरमा के चंगुल में व्यक्ति ही नहीं बल्कि उसका पूरा खानदान आहें भरता हैं। मतलब साफ है चुगल खोर व्यक्ति अन्याय बिल्कुल नहीं करता। वह मित्र/ शत्रु को ही नहीं बल्कि उनके घर परिवार को भी प्रसाद-सा बाँटता चलता है।

मुझे यह बात कहने में गुरेज नहीं कि चुगली भी ब्रह्मांड भाँति विस्तार पाती है। इस संदर्भ में एक बात और कहती चलूँ कि ब्रह्मांड की प्रवृत्ति विस्तार के पश्चात संकुचन की है लेकिन चुगली के संकुचन की संभावनाएँ नहीं होती। इसकी प्रवृत्ति केवल और केवल विस्तार की रहती है। जो व्यक्ति इसके चंगुल में या गया उसकी सात पुश्ते चंगुल में आ गई समझो!

आपका तो पता नहीं पर मै जीवन रक्षक के तौर पर इस चुगलखोरी के घोर पक्ष में हूँ। चाहती हूँ कि महिलाएँ जिस द्रुतगति से इस क्षेत्र में अपने झंडे गाड़ रही हैं उतने ही ऊँचे झंडे पुरुष भी भविष्य में गाड़ पाएँ ताकि चिकित्सा-व्यवस्था की मुँहजोखी से बचा जा सके। अस्पतालों की कमी से जूझ रहे केंद्र और राज्य सरकारों से मेरा व्यक्तिगत अनुरोध है कि चुगल खोरी जीवन के लिए किफायती दवा है अतः अस्पताल खोलने की बजाय चुगली केंद्र खोल दिए जाएँ। शिक्षण-प्रशिक्षण की चिंता भी सरकारें कतई ना करें क्योंकि मै गंगाजली उठाकर कह सकती हूँ कि इन केंद्रों में प्रशिक्षण देने हेतु चुगली विशेषज्ञ रूप में न केवल मैं बल्कि मुझ सरीखी चुगलखोर महिलाएँ मात्र दो वक्त की चाय के सहारे अपनी कला का जलवा दिखाने को सदैव तत्पर रहेंगी! पारस्परिक कलह या झगड़े की बिल्कुल भी जरूरत नहीं है। मैं उन पुरुषों को भी आमंत्रित करती हूँ जो इस क्षेत्र में हम-से हैं। और हाँ, चाय भी न मिले तो भी चलेगा।

एसोसिएट प्रोफ़ेसर
हिन्दी विभाग, गार्गी कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

●

मोहन राकेश के तीन नाटक : एक अनूठा प्रयोग

आशा

मोहन राकेश आधुनिक हिन्दी रंगमंच के सुप्रसिद्ध नाटककार हैं। उन्होंने तीन नाटक लिखे—'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' और 'आधे-अधूरे'। यूँ उनका एक अपूर्ण नाटक 'पैर तले की जमीन' भी था जिसे राकेश के मरणोपरान्त कमलेश्वर ने पूरा किया, किन्तु वह अपनी कोई ख़ास पहचान बना नहीं पाया। अपने सशक्त कथ्य और शिल्प के बूते राकेश के तीनों नाटक रंगकर्मियों को गाहे-बगाहे आकर्षित करते रहते हैं। इसी आकर्षण का उदाहरण है, रमा यादव के निर्देशन में हुई प्रस्तुति 'मोहन राकेश के तीन नाटक'। यह प्रस्तुति अपने-आप में अनूठी इसलिए थी कि इसमें राकेश के तीनों नाटकों के चुनिन्दा अंशों के साथ उनके 'विजन' को दर्शाने की कोशिश की गयी। यह प्रस्तुति मंडी हाउस स्थित श्रीराम सेंटर के प्रेक्षागृह में हुई।

मोहन राकेश आज़ाद हिन्दुस्तान की उस हवा में नाट्य-लेखन शुरू करते हैं जिसमें सम्बन्धों में तेजी से बदलाव हो रहा था। आत्ममुग्धता बढ़ रही थी, विज्ञान-तकनीक के अविष्कार, औद्योगिकीकरण, टूटते संयुक्त परिवार, गाँव से शहर की ओर पलायन सब मिलकर इंसान के स्वभाव को बदल रहे थे। संवेदना कुछेक खण्डित अनुभूतियों में तब्दील हो रही थी जिन्हें अभिव्यक्त करने के लिए साहित्य में 'द्वन्द्व', 'तनाव', 'अजनबीपन', 'असंतोष', 'उलझन' जैसे शब्दों का आगमन हुआ। मोहन राकेश समकालीन जीवन और हिन्दी के रंग-परिदृश्य—दोनों की ही चुनौतियों और समस्याओं से अच्छी तरह परिचित थे। उनके तीनों नाटक नये परिवेश से उपजी नयी और खण्डित अनुभूतियों को सम्पूर्णता में व्यक्त करने का सफल प्रयास करते हैं।

'द्वन्द्व' राकेश के नाटकों की केन्द्रीय विशेषता है। 'आषाढ़ का एक दिन' कलाकार और राजसत्ता के साथ भावना और यथार्थ का द्वन्द्व दिखलाता है। 'लहरों के राजहंस' में आध्यात्म और भौतिक सुख का द्वन्द्व और चयन न कर पाने की दुविधा है तो 'आधे-अधूरे' में आधुनिक महानगरीय परिवार के सदस्यों में तल्ख़ और कटु सम्बन्धों से उपजा तनाव है। 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' का देश-काल भले ही कालिदास और महात्मा बुद्ध से जुड़ा हो लेकिन इन दोनों ही नाटकों का कथ्य आधुनिक मनुष्य के मानसिक संघर्ष और दुविधा से भी जुड़ा है। कारण और परिस्थितियाँ अलग-अलग होने पर भी 'द्वन्द्व' आधुनिक मनुष्य के जीवन की नियति बन चुका है। रमा यादव के निर्देशन में हुई प्रस्तुति तीनों नाटकों में निहित इसी विविध-आयामी द्वन्द्व को पकड़ने की कोशिश करती दिखी। प्रस्तुति की शुरुआत 'आधे-अधूरे' के 'काले सूट वाले आदमी' के वक्तव्य से हुई जो जीवन की 'अनिश्चितता' को रेखांकित करने वाली थी। 'आधे-अधूरे' के दृश्यों के लिए आधुनिक घर के ड्राइंग रूम के सेट का प्रयोग किया गया जो कमोबेश मोहन राकेश के रंग-निर्देशानुसार ही था। 'आषाढ़ का एक दिन' और लहरों के राजहंस' के दृश्यों का परिवेश निर्माण छुट-पुट रंग-सामग्री के साथ रिकार्डिड ध्वनि से हुआ जिसमें क्रमशः मेघ गर्जन व वर्षा और 'बुद्धं शरणं गच्छामि' काफ़ी प्रभावशाली रहे। मल्लिका, सावित्री, महेन्द्रनाथ, बिन्नी की भूमिकाएँ एक से अधिक अभिनेता-अभिनेत्रियों ने की। चरित्र की उम्र और स्वभाव में आये बदलाव के अनुरूप यह रंग-युक्ति संतुलित और उपयुक्त रही। मल्लिका के 'भावना में भावना का वरण', कालिदास को उज्जैनी भेजने के आग्रह, सुन्दरी द्वारा कामोत्सव का आयोजन, नन्द में अदम्य सुन्दरी-पत्नी और गौतम बुद्ध के प्रति खिंचाव से उपजे द्वन्द्व, सावित्री के घर छोड़ने का निश्चय, महेन्द्रनाथ और अशोक के साथ हुई बहस, बिन्नी द्वारा उस 'चीज' को ढूँढने की व्यर्थ कोशिश वाले दृश्य असरदार बन पड़े। दृश्य नाटकों के अनुसार क्रमवार न होकर आपस में गुँथे-मिले थे। सारा कार्य-व्यापार, गतियाँ, मुद्राएँ, वेशभूषा, प्रकाश आदि 'द्वंद्व' को ही घनीभूत करते दिखे। मोहन राकेश अपने नाटकों में सुचिन्तित रंग-निर्देशों के लिए भी जाने जाते हैं। इस प्रस्तुति में 'आधे-अधूरे' के कुछ रंग-निर्देशों का वाचन करने के साथ उन्हें हरकत की भाषा में तब्दील किया गया। राकेश ने रंगभाषा पर चिंतन करते समय उपयुक्त शब्द के चयन के साथ ही प्रदर्शन में उच्चारण की लय पर काफी बल दिया है, जो अभिनय करने वाले कलाकार के लिए बहुत चुनौतीपूर्ण है। इस प्रस्तुति में कई कलाकार इस चुनौती से जूझते दिखे।

इस तरह की प्रयोगात्मक प्रस्तुतियाँ दर्शक से भी अतिरिक्त सजगता की माँग करती है। यदि किसी ने मोहन राकेश के तीनों नाटक नहीं पढ़े हैं तो उनके लिए यह प्रस्तुति समझ से बाहर ही कही जायेगी। हिन्दी रंगमंच की एक बड़ी सीमा यह भी है कि काफ़ी समय, संसाधन और ऊर्जा खर्च करके तैयार की गयी किसी प्रस्तुति के गिने-चुने शो ही होते हैं। कम-से-कम लीक से हटकर तैयार की गयी प्रस्तुतियों के, आवश्यक 'फीड बैक' के बाद कई शो होने चाहिए ताकि 'प्रयोग' की रचनात्मकता को समझा जा सके। बहरहाल, रंगमंच एक प्रयोगशील विधा है। प्रयोग होते रहने चाहिए, नयी दिशाएँ तभी खुलेंगी। रमा यादव द्वारा निर्देशित 'मोहन राकेश के तीन नाटक' प्रयोगशीलता की कड़ी में अच्छा प्रयास रहा।

प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग
अदिति महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

●

जयशंकर प्रसाद का 'चन्द्रगुप्त'

प्रवीण भारद्वाज

'मंच नाटक में हमेशा बीज रूप में छुपा रहता है और रंग कर्म अपने अलग-अलग रूप में बीज को ही पल्लवित करता है—अपने देशकाल की अलग-अलग रोशनी, मिट्टी और पानी में'

विद्वानों की इस वाणी को शिवाजी कॉलेज के जीजाबाई सभागार के मंच पर जीवंतता प्रदान की गयी। इसका आधार रहा,राष्ट्रीयता के अखंड स्वर को वैश्विक संदर्भ प्रदान करने वाले महान नाटककार जयशंकर प्रसाद का ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित 'चंद्रगुप्त' नाटक।

रोशनी, मिट्टी और पानी के रूप में हर साधन की उपलब्धता का श्रेय, 'उद्गीत' पत्रिका के संपादक एवं शिवाजी कॉलेज के यशस्वी प्राचार्य प्रोफेसर वीरेंद्र भारद्वाज सर को जाता है। जो सदैव अपने प्रत्येक प्रशंसनीय कार्य को गुरुवर प्रोफेसर रमेश गौतम सर को समर्पित करते हुए उद्गीत पत्रिका में कबीर की यह साखी प्रस्तुत करते हैं—

"यह संसार कागद की पुड़िया,
बूंद पड़े गल जाना है,
रहणा नहीं देस बिराणा है
कहत कबीर सुनौ भई साधौ
बस सद्गुरु नाम ठिकाना है...।"

शिवाजी परिवार की सदस्या, हिन्दी विभाग प्रभारी प्रोफेसर ज्योति शर्मा द्वारा अपनी सहयोगी प्राध्यापिकाओं के संयुक्त प्रयास से हिन्दी पखवाड़े के अंतर्गत 23 सितंबर 2024 को 'चंद्रगुप्त' नाटक का मंचन किया गया। जिसमें विविध भूमिकाओं में 20 विद्यार्थियों ने मंच पर अपना सफल प्रदर्शन किया।

गुरुवार रमेश गौतम सर प्रायः 'चंद्रगुप्त' नाटक के विषय में कहते थे कि—

"भाषा और भाषिक भंगिमाओं का मंचीय उत्कृष्टता के निर्माण में, खास योगदान है। प्रसाद के नाटकों में 'चंद्रगुप्त' में चाणक्य की भाव भंगिमाएँ और उसकी, ओजपूर्ण शैली ही उसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पात्र बनाती हैं।"

चाणक्य की भूमिका निभाने वाले आदित्य भट्टर जब अपना संवाद बोलते हुए कहते हैं :

"महत्त्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है", तब शिवाजी महाविद्यालय के सभागार में उपस्थित विविध महाविद्यालयों के दर्शकों की तालियोंकी अनुगूँज मानो पुनःगुरु शिष्य के उसी संबंध को व्यक्त करती दृष्टि गोचर हुई, जिसके विषय में आदरणीय प्राचार्य प्रोफेसर वीरेंद्र भारद्वाज सर कहते हैं—

"कुम्हार को गीली मिट्टी को घड़े का रूप देने के लिए उसे अपनी कलाकारी से परिपूर्ण हाथों की धीमी धीमी थपकी देनी पड़ती है उस थपकी को घड़ा यदि चोट समझ कर अवहेलना कर देता है तो घड़ा मात्र गीली मिट्टी ही रह जाता है, उसी प्रकार गुरु भी शिष्य को सिखाने के लिए हल्की झिड़की देता है, जिसका वास्तविक आशय शिष्य को उन्नति के शिखर पर समझ में आता है।"

अपने व्यस्तम समय के मध्य भी विद्यार्थी कलाकारों का उत्साह वर्धन करने के लिए प्राचार्य महोदय द्वारा हर संभव, मंचन हेतु सुविधाओं को स्वीकृति प्रदान की गयी।

उनके छायाचित्रों में अपनी उपस्थिति की महत्ता को समझते हुए, कॉर्नेलिया बनी मुस्कान, नंद बने केशव और अन्य कलाकारों के संग संग उनकी बालोचित अपेक्षाओं को पूरा किया। विद्वानों के मतानुसार नाटक की भाषा रंगमंच की भाषा के रूप में परिवर्तित होते हुए भी सहज स्वाभाविक होनी चाहिए एवं उसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता एवं बनावटीपन उत्पन्न नहीं होना चाहिएस 'चंद्रगुप्त'नाटक के मंचन में अमात्य राक्षस की भूमिका निभा रहे अविनाश द्वारा वैदिक और बौद्धर्मावलंबियों की टकराहट को बड़ी ही स्वाभाविकता के साथ व्यक्त किया गया—

'केवल सधर्म की शिक्षा ही मनुष्य के लिए पर्याप्त है और वह तो मगध में ही मिल सकती है'

आदित्य भट्टर नामक चाणक्य की भूमिका निभा रहे पात्र द्वारा राक्षस का प्रतिवाद पूरे सभागार के दर्शकों के मानोमस्तिष्क को संजीदगी से भर देता है—

'परंतु बौद्ध धर्म की शिक्षा मानव व्यवहार के लिए पूर्ण नहीं हो सकती भले ही वह संघ-विहार में रहने वालों के लिए उपयुक्त हो।'

नंद बने केशव का अभिनय सभागार के युवा दर्शकों के लिए उत्सुकता का विषय था जो अक्सर खलनायक के संवादों में ही रोमांच ढूंढते नजर आते हैं। नंद का ब्राह्मण शब्द मात्र से उत्तेजित हो जाना, उसका आक्रोश और चाणक्य की शिखा खींचने का आदेश, तालियों की गूंज से पूरे सभागार को गुंजायमान कर देता है।

नंदः ब्राह्मण! ब्राह्मण! जिधर देखो इनके आतंक की ज्वाला धधक रही है।

मंच पर धीमे प्रकाश के साथ चाणक्य का शिखा खींचे जाने पर घोर क्रंदन के साथ अभिशाप युक्त उद्घोषणा से शिवाजी कॉलेज का मंच गूंज उठा—

चाणक्यः खींच ले ब्राह्मण की शिखा यह शिखा नंदकुल की कालसर्पिणी है वह तब तक ना बंधन में होगी जब तक नंदकुल निःश्शेष न होगा।

ऐसा माना जाता है की नाटक में बोलचाल की भाषा और हरकत की भाषा में अटूट संबंध होता है चरित्र जो कहता है वह हरकत करता भी है। फिलिप्स, सिल्यूकस, सिकंदर द्वारा चंद्रगुप्त और पर्वतेश्वर के

साथ युद्ध उनकी तलवारबाजी का परस्पर मंच पर सामंजस्य, रंगमंचीय कौशल को द्विगुणित करता प्रतीत हो रहा था।

'चंद्रगुप्त' नाटक में प्रसाद जी द्वारा लिखे गये गीत उसे एक विशिष्ट स्थान प्रदान करते हैं। शिवाजी कॉलेज की मंच पर 'हिमाद्री तुंग श्रृंग' गीत पर अलका बनी तनु द्वारा भगवा झंडा लेकर देशभक्ति का ओजस्वी अभिनय दर्शकों में राष्ट्रीयता के भाव में और अधिक अभिवृद्धि करने वाला था।

इस प्रकार हर्षोल्लास के साथ शिवाजी महाविद्यालय में चंद्रगुप्त नाटक के मंचन का कार्य संपन्न किया गया। मंच नाटक में हमेशा बीज रूप में छुपा रहता है और विद्यार्थियों में नाटक की मंचीयता की इच्छा के बीज को पल्लवित करने का कार्य शिवाजी कॉलेज के प्राध्यापक हमेशा से करते रहे हैं। नाटक में भूमिका निभाने वाले पात्रों का निरंतर अभ्यास के द्वारा स्वयं को उस पात्र में ढालने का श्रेय यदि पूर्ण रूप से विद्यार्थियों को जाता है तो उनकी त्रुटियों की ओर ध्यान दिलाकर उन्हें दूर करने का श्रेय उनके प्राध्यापकों को भी कहीं न कहीं दिया जा सकता है।

"गुरु मात्र पाठ्यक्रम से संबंधित सामग्री का अध्यापन कराने वाला ही नहीं होता अपितु प्रज्ञा तथा उपाय की मध्यस्थता कर दोनों का मिलन संपन्न कराने वाला भी गुरु ही होता है।"

आगामी समय में भी शिवाजी परिवार, इस गुरु शिष्य परंपरा का निर्वहन करते हुए साहित्यिक मंच में कुछ नवीन कड़ियाँ जोड़ने को प्रयासरत रहेगा।

शिवाजी कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

●

शिवाजी कॉलेज में हुई 'चन्द्रगुप्त' नाटक की प्रस्तुति का एक दृश्य

शिवाजी कॉलेज द्वारा प्रस्तुत 'चन्द्रगुप्त' नाटक का पोस्टर

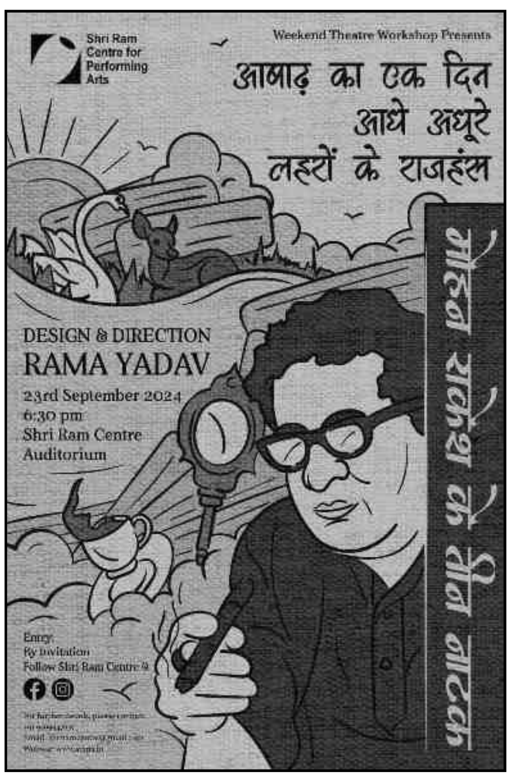

रमा यादव द्वारा निर्देशित 'मोहन राकेश के तीन नाटक' का पोस्टर

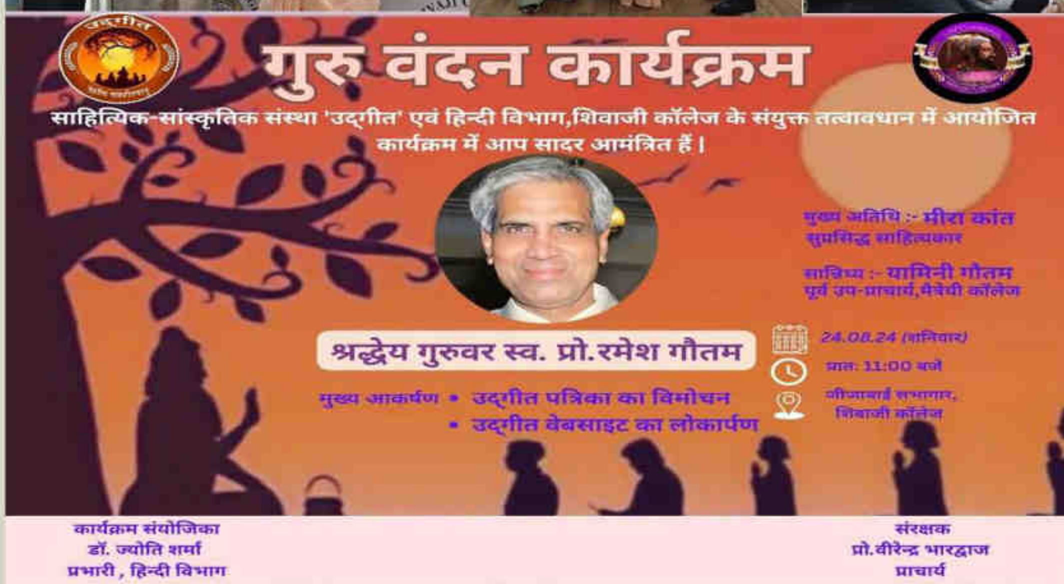
गुरु वंदन कार्यक्रम
साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्था 'उद्गीत' एवं हिन्दी विभाग,शिवाजी कॉलेज के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित कार्यक्रम में आप सादर आमंत्रित हैं।
मुख्य अतिथि :- मीरा कांत
सुप्रसिद्ध साहित्यकार
सान्निध्य :- यामिनी गौतम
पूर्व उप-प्राचार्य,मैत्रेयी कॉलेज
श्रद्धेय गुरुवर स्व. प्रो.रमेश गौतम
24.08.24 (शनिवार)
प्रातः 11:00 बजे
जीजाबाई सभागार,
शिवाजी कॉलेज
मुख्य आकर्षण • उद्गीत पत्रिका का विमोचन
• उद्गीत वेबसाइट का लोकार्पण
कार्यक्रम संयोजिका
डॉ. ज्योति शर्मा
प्रभारी , हिन्दी विभाग
संरक्षक
प्रो.वीरेन्द्र भारद्वाज
प्राचार्य